Chap-2

द्वितीय अध्याय

साठोत्तरी कथा–साहित्य – विभिन्न पड़ाव और बदलाव

<u>हिन्दी कथा साहित्य :</u>

कथा-साहित्य का आरम्भिक रुप चाहे साहित्य के विकास के किसी भी युग से हमें क्यों न प्राप्त हो, परन्तु कहा यही जाता है कि कथा-साहित्य का ज़न्म मानव-जाति के साथ ही हुआ है। साहित्य का प्राचीनतम अंग इसी दृष्टि से सिद्ध होता है। कथा-साहित्य का क्षेत्र बहुत ही विशाल और व्यापक है, तथा मानव जीवन की अनुभूतियों का अधिकतम प्रखर और गहन अभिव्यक्ति इसी माध्यम से प्रस्तुत की जा सकने की सम्भावनाएँ प्रायः होती हैं। जैसे-जैसे संसार की विभिन्न भाषाओं के साहित्य में गद्य का आविर्भाव और विकास होता गया, वैसे-वैसे कथा-साहित्य का भी महत्व बढ़ता गया। अंततः ऐसी स्थिति भी आई जब यह निर्विवाद रुप में स्वीकार किया जाने लगा कि कथा-साहित्य आधुनिक काल में जीवन का विश्लेषण करने वाला सबसे सशक्त माध्यम है, और यही कारण है कि संसार के साहित्य में इसे आधुनिक महाकाव्य की संज्ञा प्रदान की गयी।

हिन्दी कथा-साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन होते हुए भी आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य की जो सामग्री उपलब्ध है, उसका इतिहास बहुत अधिक समय का नहीं कहा जा सकता ।

"आधुनिक कथा-साहित्य की विशेष प्रवृत्तियों पर अपने विचार प्रकट करते हुए एक पाश्चात्य आलोचक ने कहा है कि आत्मनिष्ठता ही आधुनिक कथा-साहित्य की विशेषताओं में से एक है।"[1]

हिन्दी कथा-साहित्य के विकास-क्रम पर दृष्टि डालने से यह पता चलता है कि "प्रारम्भिक पौराणिक आदि कथाओं में या तो साहसिकता और अनाचार के विरुद्ध आवाज़ उठाने की प्रवृत्ति की प्रधानता होती थी, या फिर किसी प्रेम-प्रसंग के आधार पर असाधारण कार्य करने की प्रवृत्ति की। इन कथाओं का रुप बहुत जटिल होता था, और वे एक क्षीण-सूत्र से जुड़े होने का आभास भी देती थीं।"[2] उसमें ऐसे विषयों का समावेश बहुलता से मिलता था, जिनका सम्बन्ध मूल-कथा से नहीं था। कथा की प्रधानता और घटनाओं की अधिकता का परिणाम यह निकलता कि उपन्यास के अन्य तत्व एक तरह से अप्रधान हो जाते थे, और कथोपकथन; चरित्र-चित्रण आदि में किसी प्रकार की कलात्मकता आ सकती है, यह समझने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी। इसके पश्चात् कथा-साहित्य के विकास-क्रम की ऐसी स्थिति भी आई, जिसमें नायकों के कार्य-क्षेत्रों में परिवर्तन किया गया, और घटना वैचित्र्य पर अधिक जोर दिया गया। शिल्प की दृष्टि से इस प्रकार के कथानकों में नाटकीयता का समावेश अधिक मिलता है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु-युग तक की रचनाएँ इसी कोटि में मिलती हैं, लेकिन इस युग में हमें कुछ ऐसे भी उपन्यास प्राप्त होते है, जिन में घटना-वैचित्र्य और कथानक की प्रधानता के साथ ही साथ किसी सीमा तक इस प्रकार के प्रयत्न हैं, जिनके फलस्वरुप पात्रों का चारित्रिक विकास भी लक्षित होता है। इस युग के उपन्यास-साहित्य के पर्यवेक्षण पर विचार प्रकट करते हुए डॉ. प्रतापनारायण टंडन कहते हैं - "भारतेन्दु-युगीन कथा-साहित्य में न तो उतनी कल्पनात्मकता ही दिखाई पड़ती

है, जितनी पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में और न उतनी यथार्थानुकारिता ही जितनी परवर्ती कथा-साहित्य में मिलती है।"[3] इस युग में ऐतिहासिक कथ्यों पर उपन्यास बहुत कम लिखे गए। इन्हीं ऐतिहासिक उपन्यासों के अभाव के विषयमें विचार प्रकट करते हुए डॉ. श्रीकृष्ण लाल लिखते हैं – "हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास उच्च कोटि और पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। संख्या में तो हिन्दी में भी ऐतिहासिक उपन्यासों की कमी नहीं है, यद्यपि वे तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों से बहुत कम हैं, परन्तु उच्चकोटि का ऐतिहासिक उपन्यास उस काल में हिन्दी में एक भी नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि हिन्दी में उपन्यास घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, शिक्षित और सभ्य जनता का उपन्यास लिखना तो दूर रहा उसे पढ़ना भी पसंद नहीं करती थी। सभ्य और शिक्षित लेखक कविता, नाटक अथवा निबन्ध इत्यादि लिखा करते थे, उपन्यास लिखना उस श्रेणी के लेखकों का काम था, जो अधिक शिक्षित न थे, और जिनमें कविता, नाटक अथवा निबंध लिखने की क्षमता न थी। वे केवल साधारण हिन्दी का ज्ञान रखते थे, और भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ थे।"[4]

भारतेन्दु -युगीन उपन्यास-साहित्य कथा के रुपों की दृष्टि से जटिलताएँ लिए हुए नहीं हैं। भारतेन्दु-युग को लेकर डॉ.प्रतापनारायण टंडन अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि – "भारतेन्दु-युग में ही इस बात का आभास मिलने लगा था कि आगे हिन्दी उपन्यास किन दिशाओं को ग्रहण करेगा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द युग में जिस प्रकार के उपन्यास-साहित्य की रचना हुई, उसका बीजारोपण भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। हाँ, एक महत्वपूर्ण भेद अथवा भिन्नता, जो इन दो युगों के उपन्यास-साहित्य में है, वह यही कि अनेक समानताओं-असमानताओं के बावजूद, भारतेन्दु युग के उपन्यास-जीवन से जितने दूर थे, प्रेमचन्द युग के उपन्यास उसके उतने ही निकट।"[5] कथा-काल की दृष्टि से जिस तत्व ने इस युग शिल्प-विकास में अधिक योग दिया, वह है इस युग के उपन्यासों में सामयिकता की भावनाओं का समावेश। इस युग तक यह मान्यता

काफी प्रचलित रही कि – "कथा-साहित्य के क्षेत्र के अन्तर्गत प्राचीन, अर्वाचीन, मध्यकालीन, पौराणिक तथा काल्पनिक आख्यानों आदि की गणना ही की जानी चाहिए, जिनसे युगीनता के तत्वों का कोई सम्बन्ध नहीं है।"[6]

"उत्तरकालीन भारतेन्दु युग में कथा को संगठित करके उसमें यथार्थ तत्वों की दृष्टि से अधिक से अधिक पूर्णता लाने का प्रयत्न किया गया.... इस युग में किसी सीमा तक, इस प्रचलित मान्यता द्वारा निर्धारित सीमाओं को भंग किया गया और युगीन समस्याओं की कथा-साहित्य में प्रतिबिम्बित किए जाने की चेष्टा भी की गई।"[7]

कथा-साहित्य के विकास के विविध आयाम :

कथा-साहित्य के विकास की विविध पद्धतियाँ या आयाम हमें प्राप्त होती हैं, जो कि हिन्दी उपन्यास के विकास के इतिहास में भी लक्षित होतीं हैं। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं, कि भारतेन्दु युग से लेकर प्रेमचन्दोत्तर युग तक के हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में कथा के विकास के विविध आयाम हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं :-

(क) कथात्मक पद्धति :

हिन्दी उपन्यास के कथा-विकास में यह पद्धति सर्वप्रमुख रही है, क्योंकि यह उपन्यास साहित्य के विकास के प्रत्येक युग में ही प्रमुखता से मिलती है, यद्यपि सदैव इसके किन्हीं भिन्न-भिन्न रुपों की ही प्रधानता दिखाई देती है। कथात्मक पद्धति के निम्नलिखित रुप मिलते हैं – रहस्यात्मक, लोक-कथात्मक, आत्मविश्लेषणात्मक, प्रेमाख्यानक तथा सामान्य वर्णनात्मक।

(ख) भावात्मक पद्धति :

कथा-विकास की काव्यात्मक पद्धति अपने तीन रुपों में प्रस्फुटित हुई है – (१) वीर भावात्मक (२) रीति-भावात्मक (३) भाव-प्रधान। भावात्मक पद्धति का आरंभ 'रानी केतकी

की कहानी'; 'आल्हा-ऊदल की कथा';. गोरा बादल की कथा' आदि से मिलता है। आधुनिक युग में यह पद्धति समन्वित रुप में प्रधानतः ऐतिहासिक उपन्यासों में ही मिलती है।

(ग) नाटकीय पद्धति :

उपन्यासों में कथा-विकास की नाटकीय पद्धति मुख्यतः तीन रुपों में आगे बढ़ी है - (१) रंगमंचीय नाटकीय पद्धति (२) यूरोपीय संघर्षात्मक पद्धति (३) ओजपूर्ण संवादात्मक पद्धति। नाटकीय पद्धति के इन सभी रुपों का प्रारंभ भारतेन्दु-युग में हुआ। इन पद्धतियों में लिखे गए उपन्यासों की विशेषता यह है कि इनका विकास भी उसी तरह हुआ, जिस तरह से तत्कालीन नाटकों का होता था।

(घ) विश्लेषणात्मक पद्धति :

यह पद्धति कथा के विकास में निम्नलिखित रुपों में विकसित हुई, जैसे - (क) मनोवैज्ञानिकता युक्त (ख) यथार्थपरक (ग) बौद्धिकतायुक्त (घ) आदर्श से आगृहीत। वैसे, "विश्लेषणात्मक कथा-विकास पद्धति का आरम्भ यों तो भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था, परन्तु उनमें मनोवैज्ञानिकता का समावेश आधुनिक-युग में ही मिलता है.... इन युगों के उपन्यास-साहित्य में अनुभूतियों को एक प्रकार की आत्मनिष्ठा से पूरित दृष्टिकोण के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। इसमें केवल किन्हीं पात्रों के व्यावहारिक और बाह्य कार्यकलापों का ही उल्लेख नहीं होता, वरन् उनके मूल चालक स्त्रोतों तथा मानसिक पृष्ठभूमि का भी विश्लेषण प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है .... प्रेमचन्दोत्तर युग में यह पद्धति ठीक इसी रुप में नहीं मिलती, अब इसमें मनोविश्लेषणात्मक तत्वों को भी आरोपित किया गया होता है अब इनमें केवल मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण ही नहीं, वरन् मनुष्य के अन्तर जगत के सूक्ष्म स्पन्दनों तक के उद्‌घाटन का आग्रह मिलता है।"[8]

(ङ) पूर्वकथ्य पद्धति :

कथा के विकास में पूर्वकथ्य पद्धति का समावेश आधुनिक काल के उपन्यासों में ही सफलतापूर्वक हुआ है – "इस पद्धति के अनुसार उपन्यासकार कथा कहते-कहते अकस्मात् प्रसंग के सूत्र को किसी विगत घटना के सूत्र से जोड़ देता है, जिससे कथा की गति विकास की ओर अग्रसर होती है।"[9] उपन्यासकार पूर्वकथ्यं पद्धति के आधार पर कथा-सूत्र को प्रधान पात्र के विगत जीवन से सम्बन्ध करके उसे समाप्ति तक पहुँचा देता है।

इस प्रकार से कथा के विकास की यह पद्धति अपने विविध रुपों में आधुनिक युग के उपन्यासों में हुई है। निष्कर्ष रुप से यह कहा जा सकता है कि "हिन्दी उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में कथा-विकास की जो पद्धतियाँ लक्षित होती है, उनमें इन्हीं पद्धतियों के रुप मिलते हैं, जिनकी चर्चा इस अध्याय में की गई है। इन पद्धतियों के विकास को देखने पर यह प्रतीत होता है कि विविध युगों में भिन्न-भिन्न कथा-पद्धतियों की प्रधानता रही है। परवर्ती युगों में प्रत्येक पूर्ववर्ती पद्धति का विकास नवीन रुपों का आधार ग्रहण करके हुआ है, साथ ही, युगीन प्रवृत्तियों के प्रभाव के फलस्वरुप इनके विकास-क्रम के बीच अनेक नवीनतर तत्वों का भी समावेश होता रहा है।"[10]

हिन्दी में उपन्यास साहित्य की आधारभूमि जिस समय तैयार हो रही थी, उस समय तक विदेशी भाषाओं में उपन्यास एक पूर्ण विकसित साहित्य का अंग बन चुका था। हमारे देश में उस समय तक बँगला और अँग्रेजी भाषाओं के उपन्यासों का भी पर्याप्त प्रचार हो चुका था। इस प्रारम्भिक युग में हिन्दी जिन उपन्यासों का अनुवाद हुआ, उनमें इन दोनों भाषाओं के ही प्रसिद्ध उपन्यास थे। जिनकी चर्चा हम संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

बँगला से अनूदित उपन्यास :-

प्रारम्भ में बॅगला भाषा से जिन उपन्यास लेखकों की कृतियों को अनूदित करने का काम बहुत तीव्रता से हुआ, उनमें मुख्य थे – बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय; रवीन्द्रनाथ ठाकुर;

रमेशचन्द्र दत्त; चंडीचरण सेन; हाराणचन्द्र रक्षित; शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय तथा चारू-चन्द्र।

यह बात स्वीकारनी होगी, कि बँगला से जिन उपन्यासों का अनुवाद हुआ, उसने जनता की रुचि तो इस क्षेत्र में बढ़ायी ही, साथ ही उसका परिष्कार भी किया। हिन्दी उपन्यास के इस विकास युग में प्राचीन परिपाटी का बहिष्कार कर नवीन शैली को प्राथमिकता दी। इस शैली के उपन्यासों के आरम्भ और विकास में भी बँगला भाषा से अनूदित उपन्यासों का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा।

बॅगला भाषा से इस युग में जिन उपन्यासों को अनूदित किया गया उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं -

- "बंग विजेता" - इसका अनुवाद 'श्री गदाधर सिंह' ने किया।
- "दुर्गेश नन्दिनी" - बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के इस सर्वप्रसिद्ध उपन्यास का अनुवाद भी 'श्री गदाधर सिंह' ने ही किया।
- "स्वर्णलता" और "मरता क्या न करता" - 'श्री राधाकृष्ण दास' ने इन दोनों उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया।
- "राजासिंह";"इन्दिरा";"राधारानी";"युगलांगुरीय" -इन चारों उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद इस युग के प्रसिद्ध निबन्धकार 'पंडित प्रतापनारायण मिश्र' ने प्रस्तुत किया।
- 'विरजा';'जावित्री';'मृणमयी' -इन तीनों उपन्यासों का अनुवाद 'पंडित राधाचरण गोस्वामी' ने किया।
- चतुर-चंचला, भानमती, नए बाबू, बड़ा भाई, देवरानी-जेठानी, दो बहिनें, तीन पतोहू, सास-पतोहू इन सभी उपन्यासों का अनुवाद इस युग के प्रसिद्ध उपन्यासकार 'श्री गोपालराम गहमरी' जी ने किया। ये अनुवाद क्रमशः संवत 1950,1951,1957,1958,1959 तथा 1961 में प्रकाशित हुए।"[11]

<u>अँग्रेजी तथा अन्य भाषाओं से अनूदित उपन्यास :</u>

बँगला से अनूदित उपन्यासों को बड़ी संख्या में पाकर अन्य भारतीय भाषाओं के अनुवाद की कमी को देखते हुए इस बात का प्रयत्न किया गया कि उनके भी प्रतिनिधी उपन्यासों का हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया जाए। 'हिन्दी कथा साहित्य' नामक पुस्तक में श्री पदुम लाल पुन्ना लाल बख़्शी ने लिखा है – "हिन्दी साहित्य जगत् में बँगला साहित्य के श्रेष्ठ ग्रन्थों की विशेष लोकप्रियता देखकर आधुनिक मराठी साहित्य के विख्यात लेखक नाना वारेकरने एक बार एक हिन्दी प्रेमी सज्जन से कहा था, कि हिन्दी वालों से मेरी एक शिकायत है। उन्हें बँगाल के सिवाय किसी दूसरे प्रांत के साहित्य में दिलचस्पी नहीं है।यदि मैं यह कहूँ कि बंगाल के प्रति उनमें हीन-भाव है, तो अत्युक्ति नहीं होगी।"[12]

इस युग में बॅगला भाषा से तो कई उपन्यासों का अनुवाद किया ही गया, साथ ही अंग्रेजी, मराठी, गुजराती तथा उर्दू भाषा के भी बहुत से उपन्यासों को अनूदित किया गया। इसके अंतर्गत आने वाले निम्नलिखित उपन्यासों की सूची इस प्रकार है –

(क) जिन उपन्यासों का अनुवाद बाबू रामकृष्ण वर्मा ने अंग्रेजी या उर्दू से क्रमशः संवत 1946,1947,1949,1951 और 1952 में किया था, उनके नाम थे – ठग वृत्तांत माला, पुलिस वृत्तांत माला, अकबर, अमला वृत्तांत माला और चित्तौड़ चातकी।

(ख). बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' और 'प्रमिला' नामक दोनों अनूदित उपन्यासों को क्रमशः 1952 तथा 1953 में प्रकाशित किया था।

(ग) 'छत्रसाल' नाम के इस उपन्यास का अनुवाद बाबू रामचन्द्र वर्मा ने मराठी भाषा से हिन्दी में प्रस्तुत किया था, वैसे इसके मूल लेखक बालचन्द्रशाह थे।

अनुवादित उपन्यासों के हिन्दी उपन्यास के विकास में योग के विषय में डॉ.श्रीकृष्णलाल ने लिखा है – "नए पाठक बनाने और जनता की रुचि शिक्षित बनाने के अतिरिक्त इन अनुवादित उपन्यासों में मौलिक उपन्यास लिखते समय उनके लिए नमूने भी उपस्थित किए। हिन्दी में उपन्यास लिखने की कोई परम्परा न थी। इस कारण हमारे

उपन्यासकारों को प्रेरणा और अनुकरण के लिए इन्हीं अनुवादित उपन्यासों की शरण लेनी पड़ी। फिर इन्हीं अनुवादित उपन्यासों ने साहित्यिक रुप और उपादान भी दिए। बंकिमचन्द्र चटर्जी से हमें ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली, और शरत्चन्द्र तथा रवीन्द्रनाथ से हमने मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण करना सीखा।"[13]

कथा-साहित्य : विविध कथ्य शैलियाँ

साठोत्तरी कथा-साहित्य की विविध कथ्य शैलियों में कहानी, नाटक, उपन्यास, एकांकी आदि आते हैं - इन सभी शैलियों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। जो इस प्रकार है :-

कहानी :

मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक युग से ही कहानी कहने की परम्परा किसी न किसी रुप में रही ही है, अतः विश्व के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद में हमें यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी आदि के आख्यान भी स्वाभाविक रुप से मिलते हैं। आगे, हमारे अनेक ब्राह्मणों, उपनिषदों, महाकाव्यों, जैन-बौद्ध साहित्य, पुराणों, अवदान तथा जातक साहित्य में कहानियों का तो अगाध भंडार हमें मिलता है। संस्कृत में लिखे गए पंचतंत्र और हितोपदेश आदि कहानियों का प्रचार-प्रसार दूर-दूर तक हुआ।

तदनन्तर ईसाई पादरी बुद ने सीरियन भाषा में तथा कुछ अन्य विद्वानों ने लैटिन, अरबी, जर्मन, ग्रीक, फ्रेंच, स्पेनिश और अंग्रेजी में भी इसका अनुवाद किया।

अध्ययन के पश्चात् हमें यह ज्ञात हुआ कि भारतीय कथा साहित्य के कुछ अन्य ग्रन्थों का भी पाश्चात्य देशों में अधिक प्रचार हुआ; इसलिए यह कहा जा सकता है कि विश्व के कथा-साहित्य के विकास में भारतीय कथा-साहित्य ने अधिक योग दिया।

आधुनिक हिन्दी कहानी परम्परा और प्रयोग :

आधुनिक हिन्दी कहानी परम्परा का प्रारंभ यूरोप के विभिन्न लेखक समूहों के द्वारा 19वीं शताब्दी में हुआ। इस लेखक-समूह में सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं - "जर्मनी के ई.टी.डब्ल्यू. हौफमैन, जिनके कहानी-संग्रह 1814 और 1821 के बीच प्रकाशित हुए। दूसरी ओर, 'जैकब' और 'विल्हेल्म ग्रिम' ने परियों और पुराणों की कथाओं के संग्रह इसी काल में प्रकाशित करवाए। किन्तु इस युग में सर्वोत्कृष्ट कहानियाँ 'एडगर एलन पो' के द्वारा लिखी गईं। 'पो' ने न केवल कहानियाँ लिखीं; अपितु कहानी-कला का भी विवेचन किया। उनके अनुसार कहानी में पूर्व-निश्चित प्रभावान्विति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, और लेखक इसी प्रभावान्विति को ध्यान में रखकर सारी कहानी को एकसूत्र में गूँथता है। आगे चलकर मोपासाँ, ओ. हेनरी, चेखव आदि ने कहानी कला के इस सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप का और भी अधिक विकास किया। यूरोप में विकसित कहानी का स्वरूप अंग्रेजी और बँगला के माध्यम से बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी में पहुँचा।"[14]

हमें यहाँ प्राचीन कहानी और आधुनिक कहानी के स्वरूप का अन्तर स्पष्ट करते समय यह ज्ञात होना आवश्यक है, कि प्राचीन कहानी का क्षेत्र बड़ा व्यापक होता था, और उस में पशु-पक्षियों तक का भी पात्रों के रुप में समावेश होता था, जबकि आधुनिक कहानी सामान्यतः मनुष्य वर्ग तक ही सीमित होती थीं। दूसरे, प्राचीन कहानी में उच्चवर्ग जैसे राजा-रानी आदि के जीवन की काल्पनिक घटनाओं का भी वर्णन होता था, जबकि आधुनिक कहानियों में जन-साधारण के जीवन की यथार्थपरक परिस्थितियों का अंकन होता है। आधुनिक कहानी में पात्रों के चरित्र का विश्लेषण होता था, और साथ ही उनके चरित्र का कृत्रिम विकास प्रस्तुत किया जाता था।

"वस्तुतः प्राचीन कहानी में अलौकिकता, आदर्शवादिता, अस्वाभाविकता तथा काल्पनिकता का आग्रह अधिक था, जबकि आधुनिक कहानी में लौकिकता, यथार्थवादिता, स्वाभाविकता तथा विचारात्मकता पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन कहानी स्वर्गलोक

की कल्पना थी, जबकि आधुनिक कहानी हमें धरती के सुख-दुःख का स्मरण कराती है।"[15]

"हिन्दी गद्य में कहानी शीर्षक से प्रकाशित होने वाली सबसे पहली रचना 'रानी केतकी की कहानी' है, जो 1803 ई. में 'इंशा अल्ला खाँ' द्वारा लिखी गई।"[16] इसके पश्चात् कई कहानियों का उल्लेख हुआ, परन्तु आधुनिक ढंग की कहानियों का आरम्भ 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' ने 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन काल से माना है। उनके मतानुसार प्रारम्भिक कहानीकारों में किशोरीलाल गोस्वामी, मास्टर भगवानदास, आ. रामचन्द्र शुक्ल, बंग महिला, गिरिजादत्त वाजपेयी आदि प्रमुख हैं। इन प्रारम्भिक कहानीकारों के अनन्तर हिन्दी के अनेक उच्चकोटि के लेखकों - प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पांडेय बेचन शर्मा, आ. चतुरसेन शास्त्री आदि का पदार्पण हुआ। इस युग के कहानी-साहित्य में सामाजिक समस्याओं को ही प्रमुख स्थान प्राप्त था। इन सामाजिक कहानियों के अतिरिक्त कहानीकारों ने अन्तर्द्वन्द-प्रधान रोमांसिक कहानियों की परम्परा का भी सूत्रपात किया, किन्तु उन कहानियों का विकास यथेष्ट रुप में नहीं हुआ, कुछ ने प्रारंभ में पौराणिक, ऐतिहासिक, जासूसी विषयों को लेकर कहानियाँ लिखीं, फिर भी यदि हम इसे विषय-वस्तु की दृष्टि से देखें तो यह युग सामाजिक कहानियों का ही रहा।

आगे चलकर, हिन्दी कहानी-साहित्य के क्षेत्र में एक नए युग का सूत्रपात हुआ, जिसमें आदर्शवादिता का स्थान यथार्थवादिता ने, सामाजिकता का स्थान वैयक्तिकता ने तथा राजनीति और धर्म का स्थान मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण ने ले लिया। पुरानी कहानी की परम्पराओं का एकाएक लोप तो नहीं हुआ, पर उसके साथ ही कई नवीन परम्पराओं का उदय और विकास हुआ। इन्हीं नवीन परम्पराओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है :-

<u>(क)</u> <u>मनोविश्लेषणवादी परम्परा :</u>

इस परम्परा में मुख्यतः जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, भगवती प्रसाद

वाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी प्रभृति लेखक आते हैं। इनके कहानी संग्रहों में - जैनेन्द्रकुमार की वातायन, स्पर्द्धा, फाँसी, पाज़ेब, जयसन्धि, दो चिड़ियाँ, एक रात आदि। इन्होंने स्थूल समस्याओं के स्थान पर सूक्ष्म मनोविज्ञान का चित्रण करते हुए हिन्दी कहानी को नई अन्तर्दृष्टि, दार्शनिक गहराई और सम्वेदनशीलता प्रदान की। घटनाओं की अपेक्षा उन्होंने पात्रों के चरित्र-चित्रण पर अधिक बल दिया है।

'भगवतीचरण वर्मा' ने भी इस क्षेत्र में अधिक सफलता प्राप्त की है, इनकी कहानियों में हमें गंभीरता के साथ-साथ मार्मिकता और रोचकता के भी गुण मिलते हैं। इनकी कृतियों में - खिलते फूल, दो बॉके, इनस्टॉलमेन्ट आदि हैं।

'अज्ञेय' ने भी मनोविश्लेषणात्मक ढंग से कहानियाँ लिखीं जो उनके कहानी-संग्रह परम्परा, कोठरी की बात, विपथगा, जयदोल आदि में संग्रहीत हैं।

'भगवतीप्रसाद वाजपेयी' ने भी जैनेन्द्र की परम्परा को आगे बढ़ाया और उससे सम्बन्धित कहानियों की रचना की, जिनमें मुख्य हैं - पुष्कारिणी, हिलोर, खाली बोतल।

इलाचन्द्र जोशी ने अपनी कहानियों में मनोविश्लेषण के आधार पर सूक्ष्म मानसिक तथ्यों का उद्घाटन बहुत ही मर्मस्पर्शी रुप में किया है, उनके कहानी-संग्रहों में आहुति, रोमांटिक छाया, दिवाली और होली आदि हैं। "अस्तु, इस परम्परा की रचनाओं में मानव-मन की विभिन्न प्रवृत्तियों, गुत्थियों एवम् कुण्ठाओं का विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान एवम् मनोविश्लेषण के आधार पर हुआ है, जिनमें समष्टिवादी दृष्टि के स्थान पर व्यक्तिवादी दृष्टि को प्रमुखता प्राप्त हुई है। इनकी शैली विश्लेषणात्मक होने के कारण अधिक सूक्ष्म, गम्भीर एवं कहीं कहीं अस्पष्ट हो गई है।"[17]

<u>(ख) यथार्थपरक सामाजिक परम्परा :-</u>

हिन्दी के अनेक कहानीकारों ने आधुनिक समाज की विभिन्न परिस्थितियों अथवा समस्याओं का खुलासा यथार्थपरक दृष्टिकोण से किया है। इस परम्परा के कहानीकारों में- 'चन्द्रगुप्त विद्यालंकार' जिनकी कहानियों में राष्ट्रीय एवम् सामाजिक समस्याओं का चित्रण बहुत ही कलात्मक ढंग से हुआ है, इनकी रचनाओं में चन्द्रकला, भय का राज्य, अमावस आदि उल्लेख्य हैं।

'उपेन्द्रनाथ' 'अश्क' के कहानी-संग्रहों में - दो धारा, निशानियाँ आदि हैं, जिसमें कहानीकारने आधुनिक समाज की दुर्बलताओं, दूषित प्रवृत्तियों, कुण्ठाओं आदि का उद्घाटन व्यंग्यपूर्ण ढंग से किया है।

'डॉ. सत्यप्रकाश संगर' ने अपनी कहानियों में उच्चवर्ग की भोगलिप्सा, सरकारी अधिकारियों के भ्रष्टाचार, नेताओं के पाखंड आदि का चित्रण करते हुए वर्तमान समाज के विभिन्न पक्षों की आलोचना को व्यंग्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। वर्तमान स्थिति के दिग्दर्शन में डॉ. संगर को विशेष सफलता मिली है। इनके कहानी संग्रहों में - नया मार्ग, कितना ऊंचा कितना नीचा, अफ्रीका का आदमी, हमे दमे देरी ना का मिलना, लम्बे दिन लम्बी रातें, मुझे टिकट दो आदि। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के मतानुसार - "हिन्दी कहानी के क्षेत्र में अनेक महिला-लेखिकाओं ने भी प्रवेश किया, जिनमें कमलादेवी चौधरी, उषादेवी मित्रा, होमवती देवी, सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी, उमा नेहरु, तेजरानी पाठक, सत्यवती मलिक, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, पुष्पा महाजन, रजनी पनिक्का, कमला त्रिवेणी शंकर, कुंवरानी तारादेवी, कौशल्या 'अश्क' प्रभृति के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं।"[18]

<u>(ग) प्रगतिवादी परम्परा :</u>

इस परम्परा के कहानीकारों में - अमृतराय, ख्वाजा अहमद अब्बास, कृष्णचन्द्र, यशपाल, मन्मथनाथ गुप्त, श्री कृष्णदास, रांगेयराघव आदि को स्थान दिया जा सकता है। इन कहानीकारों ने समाजवादी-साम्यवादी दृष्टिकोण से आधुनिक समाज की विषमताओं का

उद्घाटन अपनी कहानियों में किया है, और साथ ही पूँजीवादी सभ्यता के दोषों, शोषक एवं शोषित वर्ग के जीवन की परिस्थितियों से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का भी खुलासा किया है। इस परम्परा की कहानियों में मुख्य हैं – पिंजरे की उड़ान, वो दुनियाँ, फूलों का कुर्ता, तर्क का तुफान, तुमने क्यों कहा था कि मैं सुन्दर हूँ, उत्तमी की माँ आदि चर्चित हैं।

(घ) यौनवादी परम्परा :

आधुनिक हिन्दी के ऐसे अनेक कहानीकार हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं में सौन्दर्य-लिप्सा, काम-वासना और प्रणय-सम्बन्ध आदि का वर्णन स्वच्छन्द रुप में किया है, जिन्हें हम यौनवादी परम्परा के अंतर्गत रख सकते हैं। इनमें आरसी प्रसाद सिंह (काल-रात्रि); व्यथित हृदय (सुहागरात की कहानियाँ); मोहनलाल महत्ती और कमलकान्त वर्मा ने भी सौंदर्य एवम् प्रेम सम्बन्धी कोमल भावनाओं का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शैली में किया है। इसके अलावा नरेश की गोधूलि; नरसिंह रामशुक्ल की उर्वशी और मैं;मधुसूदन की उजाले से पहले आदि कहानियों में कहानीकारों ने यौन से सम्बन्धित समस्याओं का उल्लेख बौद्धिक दृष्टि से तथा कहीं-कहीं पर मनोविश्लेषण के रुप में भी किया है।

(ङ) ऐतिहासिक - सांस्कृतिक परम्परा :

कहानीकार राहुल सांकृत्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतशरण उपाध्याय आदि ने अपनी विभिन्न कहानियों में अतीत की घटनाओं, परिस्थितियों तथा वातावरण का चित्रण सजीव रुप में किया है। वृन्दावनलाल वर्मा की कहानियाँ 'कलाकार का दण्ड' में तथा राहुल जी की कहानियाँ 'वोल्गा से गंगा', 'सतमी के बच्चे' आदि में संग्रहीत हैं।

(च) हास्य रस की परम्परा :

हास्य रस की कहानियॉ भी हिन्दी के अनेक कहानीकारों व्दारा लिखी गई है, जैसे – "जी.पी. श्रीवास्तव, हरिशंकर शर्मा, अजीमवेग चुगताई, अन्नापूर्णानन्द (कहानी-संग्रह – मेरी हजामत, मगनरहु चोला आदि), कान्तानाथ पांडेय 'चोंच' (मौसेरे भाई); श्री कृष्णदेव

प्रसाद गौड़ 'बेढब' (टनाटन); राधाकृष्ण (रामलीला); शिक्षार्थी (नई कला); बद्रीनारायण शुक्ल (शास्त्री साहब); श्रीनिवास जोशी (चिक का पर्दा); झपटसराय 'बनारसी' (गरम चाय); काशीनाथ उपाध्याय, रघुकूल तिलक, कुटिलेश, बरसानेलाल चतुर्वेदी।"[19]

उपर्युक्त कहानीकारों ने आधुनिक जीवन और उससे जुड़े समाज के अनेक पक्षों पर रोचक तथा व्यंग्यात्मक कहानियाँ लिखीं हैं। सामान्य रुप से हास्य और व्यंग्य का आलम्बन बनाते हुए इन कहानीकारों ने आधुनिकता की कटु आलोचना तक को भी अपनी रचना में प्रस्तुत किया है।

<u>(छ) साहसिक परम्परा :</u>

कुछ कहानीकारों ने इस परम्परा के अंतर्गत युद्ध, क्रांति, शिकार सम्बन्धी साहसिक विषयों को लेकर कहानियों की रचना की है। इनमें प्रभाकर माचवे, श्रीनाथसिंह, मोहनसिंह सेंगर, राजबहादूर सिंह, रघुवीरसिंह, श्रीरामशर्मा, गणेश पांडेय जैसे लेखकों ने अपनी कहानियों में युद्ध से सम्बन्धित घटनाओं, नाजीवाद के बढ़ते प्रभावों तथा राष्ट्रहित और देशभक्ति पर कहानियाँ लिखीं। कुछ ने तो देशभक्ति पर बलिदान होने वाले नवयुवकों तथा राजपूतकालीन गाथाओं को ओजस्वी शब्दों में प्रस्तुत किया है। कहने का तात्पर्य है कि इस परम्परा की कहानियाँ जहाँ वीर रसात्मक कही जाती हैं,वहीं दूसरी ओर इनमें रौद्र और वीभत्स रस के भी रुप हमें दिखाई देते हैं।

उपर्युक्त, चर्चित सभी परम्पराओं का आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य के विकास क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा। जिसके परिणाम स्वरूप हिन्दी कहानी में उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली गई।

<u>स्वातन्त्र्योत्तर युग - 'नयीकहानी' के विकास की परम्परा :</u>

सन् 1950 के बाद हिन्दी कहानी के क्षेत्र में एक नए आंदोलन का आविर्भाव हुआ, जिसे 'नयी कहानी' की संज्ञा दी गई। इस आंदोलन में भाग लेने वाले मुख्य नायकों में – निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश आदि थे, जिन्होंने घोषित किया कि– "नयी कहानी का लक्ष्य नए भावबोध या आधुनिकता पर आधारित जीवन के यथार्थ अनुभवों का चित्रण करना है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में मानवता, राष्ट्रीयता, सत्यधर्म, नैतिकता, प्राचीन गौरव आदि सब छलावे हैं, जिनके प्रति किसी भी कलाकार का आस्थावान होना अनुचित है। नया कहानीकार न अतीत के आदर्शों से जुड़ा है, और न ही भविष्य के स्वप्नों से।"[20]

"मानव-जीवन के यथार्थ का जितना स्पष्ट चित्रण स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों में हुआ, उतना स्वतन्त्रता-पूर्व की कहानियों में नहीं। अतः कथाकारों की भाषाशैली, कथ्य तथा शिल्प में भी परिवर्तन हुआ.... स्वतंत्रता के पश्चात् कथा-लेखकों ने कहानी के स्वरूप का परिमार्जन और परिष्कार किया है, यही नहीं, कहानी को जीवन के अधिक निकट यथार्थ की भूमि पर ला दिया है।"[21] इसलिए आजादी के बाद कहानी में जो बदलाव या परिवर्तन आया उसे हम बिल्कुल भी नकार नहीं सकते। 'नयी कहानी' के विषय में 'गुप्त जी' अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं – "नयी कहानी में व्यक्तिवाद, यथार्थवाद, अनुभूतिवाद एवम् आधुनिकतावाद की प्रतिष्ठा हुई, जिसके फलस्वरुप वह जीवन, समाज और राष्ट्र के व्यापक परिवेश से कटकर कहानीकारों के वैयक्तिक जीवन की निजी सीमाओं से आबद् हो गई।"[22]

हिन्दी नयी कहानी के उद्भव और विकास के सन्दर्भ में आधुनिक हिन्दी कहानी-परम्परा को ध्यान में रखना अति आवश्यक है। डॉ. लालचन्द्र गुप्त 'मंगल' का मत इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है– "यह सर्वविदित है, कि हिन्दी कहानी का जन्म हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष, शोषक-शोषित संघर्ष, जाति वर्ण-व्यवस्था, अनमेल-विवाह, दहेज-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रथा, वेश्यागमन, आभूषण प्रेम, सामाजिक अनाचार की समस्या आदि राष्ट्रीय और सामाजिक आंदोलनों के क्रोड़ में हुआ, और उस समय के कहानी-लेखकों ने उस काल के सम्पूर्ण

स्थूलत्व के साथ कहानी-कला का ढाँचा प्रस्तुत किया है।"[23] एक अन्य विद्वान श्री सीताराम शर्मा ने 'नई कहानी' के विषय में लिखा है कि - "नई कविता की भाँति ही नई कहानी भी बौद्धिक जागरण का प्रतीक है। वैयक्तिक निर्वैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति मौजूदा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक उतार-चढ़ाव और उथल-पुथल, विभिन्न एवं परस्पर एक-दूसरे को काटती विरोधी प्रवृत्तियाँ बौद्धिक और सांस्कृतिक अंतर्द्वन्द्वों को सही और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखे जाने का आग्रह विभिन्न विचारधाराओं में संतुलन की मांग और तत्संबंधी प्रचेष्टा परम्परा की गाढ़ी चादर के अन्दर के दमघोटू वातावरण से मुक्ति का प्रयास, सत्यान्वेषण की लगन, यथार्थ की स्वीकृति का प्रयत्न, 'नई कहानी' की पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं।"[24] इस युग की कहानियों को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि- "नई कहानी किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेष की सम्पत्ति नहीं है। वह तो आज की जिन्दगी का सही प्रतिनिधित्व है। हम जितनी तरह की जिन्दगी जीते हैं, नई कहानी उसका प्रतिरूप है। युग की तमाम सम्वेदना और संचेतना की अभिव्यक्ति है।"[25]

इस काल में हिन्दी-कहानी साहित्य की सुधारवादी भावना थी, और यह भावना तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक जैसी परिस्थितियों के कारण थी - "ये सभी प्रारम्भिक कहानीकार चाहे वह सनातनधर्मी हों या आर्यसमाजी, उनका दृष्टिकोण मानवतावादी था। वे नैतिकता का उत्थान एवम् भारतीय संस्कृति की गौरवशील परम्पराओं एवं जीवनगत मूल्य-मर्यादा की रक्षा चाहते थे।"[26] इस युग के कहानीकारों ने विविध विषयों को लेकर कई महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखीं। इस सन्दर्भ में डॉ. देवेश ठाकुर का मत प्रस्तुत है- "ऐतिहासिक परिवेश की अभिव्यक्ति, प्रकृति-सौंदर्य की प्रस्तुति, सामाजिक रुढ़ियों पर व्यंग्य, मध्ययुगीन विलासी जीवन का चित्रण, पात्रों के विशिष्ट मनोवैज्ञानिक धरातल का उद्घाटन तथा प्रणय और रोमांचकारी जीवन का चित्रांकन इन कहानियों को रसपूर्ण, आकर्षक और महत्वपूर्ण बनाने में सहायक हुआ है।"[27]

डॉ. लालचन्द्र गुप्त 'मंगल' भी अपना मत प्रस्तुत करते हुए ठीक ही कहते हैं कि-

"आज की हिन्दी कहानी को जीवन की जिस जटिलता एवम् संकुलता का सामना करना पड़ा है, उसे अभिव्यक्ति देने के लिए भाव-बोध के नए स्तरों, सौंदर्य-बोध के नए तत्वों और यथार्थ के नए धरातलों की उद्भावना करनी पड़ी है। परिणामस्वरुप इन नए सन्दर्भों की खोज ने आज की कहानी को 'नई कहानी' की संज्ञा प्राप्त करने के लिए विवश कर दिया है।"[28]

कमलेश्वर के मतानुसार- "वह तूफ़ान कहानीकार हो जाने का नहीं ज़िन्दगी को रु-ब-रु देख सकने का था, और कितना विलक्षण सत्य था यह कि उसी समय अलग-अलग जगहों पर अपनी जिन्दगी को झेलते भारतीय मध्यवर्ग के युवक लेखक अपने और अपने समय के सत्य को रु-ब-रु देखकर साहित्यिक अभिव्यक्ति दे रहे थे। और इस बदली जीवन-दृष्टि की सर्जनात्मक प्रतिभा की रचना को 'नई कहानी' का नाम मिला।"[29] लेखक आगे भी लिखता है - "यह 'नई कहानी' कोई आंदोलन नहीं था, बल्कि उन प्रश्नों के जवाब में सामने आई थी, जिनकी चुभन हर वह व्यक्ति-लेखक महसूस कर रहा था, जो समय के साथ संघर्षरत था, और पुरानी कहानी की खामोशी पर चकित और खिन्न था।"[30]

आज की कहानी में "जीवन दृष्टि ही वह प्रमुख बिन्दु है, जिसके बदलने से कहानी का परिदृश्य बदला है। पुराने लेखकों का रास्ता साहित्य से जीवन की ओर बढ़ा, पर 'नई कहानी' ने इस रास्ते को बदला है, और अब यह रास्ता जिन्दगी से साहित्य की ओर है।"[31]

"नई कहानी का यह नयापन मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक स्तर पर एक साथ देखा जा सकता है।"[32] जिन कथाकारों का नाम 'नई कहानी' के झंडादारों के साथ नहीं आ सका या फिर आया भी तो किसी उपयुक्त स्थान पर अंकित न हो सका, ऐसे ही कुछ कहानी-लेखकों ने अपने आपको उच्चकोटि का बताने के लिए 'नई कहानी' के समानांतर ही भिन्न-भिन्न नारों के माध्यम से अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति दी, और देखते-देखते 'नई कहानी' को कई नामों से पुकारा जाने लगा। जैसे - नई कहानी, समकालीन कहानी,

सचेतन कहानी, समांतर कहानी, आंचलिक कहानी, अ-कहानी, ग्रामीण कहानी, शहरी कहानी आदि-आदि। 'नई कहानी' के अलग-अलग नामों को देखकर मोहन राकेश ने भी व्यंग्यात्मक शब्दावली में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा है – "नई कहानी गाँव की कहानी है, नई कहानी नए शिल्प की कहानी है, नई कहानी सहज सांकेतिकता की कहानी है, नई कहानी उदात्त पात्रों के चित्रण की कहानी है, नई कहानी सामाजिक संघर्ष की कहानी है, नई कहानी साधारण और परिचित जीवन की कहानी है, नई कहानी स्वच्छ पारदर्शक भाषा में लिखी जाने वाली कहानी है और नई कहानी बेल-बूटेदार भाषा में लिखी जाने वाली कहानी है। नई कहानी सभी तरह की कहानी है, और न जाने किस तरह की कहानी है।"[33]

साठोत्तरकालीन हिन्दी कहानी शिल्प, भाषा, सम्वेदना एवं दृष्टि सभी तत्वों में पर्याप्त परिवर्तित हो चुकी है। इसी प्रकार राजेन्द्र यादव ने भी अपने लेख में यह स्वीकार किया है, कि साठोत्तरी कहानीकारों ने सचमुच कहानी को एक नया अर्थ दिया।

<u>प्रमुख साठोत्तरी कहानीकार (नाम व रचनाएँ) :</u>

सन '60' के दशक में हिन्दी कहानी के क्षेत्र में ऐसे भी लेखक या कहानीकार सामने आए, जिन्होंने पूरी तरह किसी एक आन्दोलन में साथ नहीं जोड़ा। इनमें से कुछ ने तो एकदम साथ नहीं दिया, और शेष ने अपने आप को आगे चलकर इससे पृथक कर दिया। साठोत्तरी कहानीकारों को हम उनकी आत्मचेतना और विषयवस्तु के आधार पर विभिन्न वर्गों में बाँट सकते हैं :-

<u>प्रथम वर्ग</u> : इस वर्ग में उन लेखकों को शामिल किया जा सकता है, जिन्होंने व्यक्ति-चेतना से प्रेरित हो मुख्य रुप से नगरों तथा शहरों के उच्चवर्गीय सामाजिक प्रवृत्तियों का चित्रण किया है। इनमें महेन्द्र भल्ला, रमेश बक्षी (पिता-दर-पिता, एक अमूर्त्त तकलीफ); सुदर्शन चोपड़ा (सड़क दुर्घटना); रवीन्द्र कालीया (नौ साल छोटी पत्नी, काला रजिस्टर, गरीवी हटाओ, बॉकेलाल); गिरिराज किशोर (पेपर बेट, शहर-दर-शहर, हम प्यार कर लें);

गंगा प्रसाद विमल; नरेश आदि लेखक आते हैं।

इन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में काम, सेक्स तथा यौनाचार आदि का चित्रण निःसंकोच रुप में किया है। इन लेखकों ने एक प्रकार से पूर्ववर्ती नई कहानी, अकहानी एवम् समकालीन कहानी की ही मिली-जुली प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाया है, जिसमें प्रायः यौन-चेतना और व्यक्ति-चेतना की प्रमुखता ही दृष्टिगोचर होती है।

<u>दूसरा वर्ग</u> : इस वर्ग में उन लेखकों को हम स्थान दे सकते हैं, जिन्होंने सामाजिक चेतना से अनुप्राणित होकर अपनी रचनाओं को प्रस्तुत किया, जिनमें इन लेखकों ने आधुनिक शहरी और ग्रामीण जीवन का चित्रण बड़ी व्यापक दृष्टि से करते हुए उसकी विभिन्न असंगतियों, विषमताओं और विडम्बनाओं को उद्घाटित किया है। इस वर्ग के मुख्य कहानीकारों में - 'अमरकान्त', 'गोविंद मिश्र' (अंतःपुर, धांसू, रगड़ खाती आत्महत्याएँ, खुद के खिलाफ, खाक इतिहास); 'ज्ञान रंजन' (फ़ेंस के इधर-उधर, यात्रा सपना नहीं); 'राम कुमार', 'श्रवणकुमार' (जहर, प्रेत, चौपाए, दाता का शुक्र है); 'रमेशचन्द्र शाह' (जंगल में आग,मुहल्ले में रावण); 'शानी' (एक से मकानों का नगर, बिरादरी तथा अन्य कहानियाँ, सड़क पार करते हुए), आदि का उल्लेख्य किया जा सकता है। इन लेखकों ने एक ओर तो महानगरीय जीवन की हासोन्मुखी प्रवृत्तियों का तथा सभी वर्गों के लोगों के जीवन की स्थितियों का चित्रण आलोचनात्मक दृष्टि से किया, पर साथ ही आज की व्यवस्था से पीड़ित मानव की असहाय स्थिति व सम्वेदना का भी चित्रण किया है।

<u>तीसरा वर्ग</u> : इस वर्ग में उन महानुभाव कहानीकारों को स्थान मिला जिन्होंने आंचलिक संस्कृति को लेकर रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इन लेखकों ने अपनी रचनाओं में ग्रामीण अंचलों की सभ्यता, संस्कृति और परिवर्तित वातावरण का वर्णन बड़ी ही सूक्ष्मता से किया है। इस दृष्टि से मुख्यतः फणीश्वरनाथ रेणु; शिवप्रसाद सिंह (हत्या और आत्महत्या के बीच, भेड़िए); मार्कण्डेय, शैलेश मटियानी, राजेन्द्र अवस्थी, हिमांशु जोशी (रथचक्र, हिमांशु जोशी की विशिष्ट कहानियॉ) आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

"जिन्होंने अपनी कहानियों में भारतीय गॉवों और देहातों की स्वतन्त्रता परवर्ती स्थितियों का अंकन कुशलतापूर्वक किया है। साथ ही इन्होंने निम्न वर्गीय समाज के अनेक उपेक्षित वर्ग के पात्रों के जीवन की समस्याओं का भी चित्रण सफलतापूर्वक किया है।"[34]

<u>चौथा वर्ग</u> : इस वर्ग में वे कहानीकार आते हैं, जिन्होंने हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली के आधार पर आधुनिक जीवन और समाज के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला। जिसमें हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्र त्यागी, काशीनाथ सिंह (लोग बिस्तरों पर, सुबह का डर, आदमीनामा) आदि के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं।

"इन्होंने आधुनिक शासन व्यवस्था, भ्रष्टाचार, राजनीतिक, लालफीताशाही, आपातकालीन स्थितियों में किए गए अत्याचार आदि पर व्यंग्यात्मक शैली से तीव्र प्रहार किए हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक सभ्यता एवं जीवन पद्धति की विसंगतियों एवं विडम्बनाओं पर भी इन्होंने प्रकाश डाला है।"[35]

<u>पाँचवा वर्ग</u> : हिन्दी कहानीकारों के इस वर्ग में केवल महिला-लेखिकाओं को ही स्थान दिया गया है। जिन्होंने नारी की बदलती परिस्थितियों, नौकरी पेशा औरतों की समस्याओं, दाम्पत्य एवम् पारिवारिक जीवन की अनुभूतियों का चित्रण अपनी रचनाओं में सशक्त रुप में किया। इस दृष्टि से शिवानी, मन्नू भंडारी (यही सच है, एक प्लेट सैलाब, त्रिशंकु); ममता कालिया (सीट नंबर छः, एक अदद औरत, उसका यौवन आदि); मंजुल भगत (बेगाने घर में, कितना छोटा सफर, आत्महत्या से पहले, बावन पत्ते और एक जोकर); मृणाल पांडेय (दरम्यान, एक नीच ट्रेजेडी); मेहरुनिसा परवेज़ आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

अन्य कहानीकार :

रामदरश मिश्र, संजीव, मिथलेश्वर, बलराम, कामतानाथ, सतीश जमाली, जितेन्द्र भाटिया, राकेश वत्स, वीरेन्द्र मेहन्दीरता, सुरेश सेठ, अशोक अग्रवाल, शेखर जोशी, कृष्ण भावुक, राबिनशा पुष्प, विजय मोहन सिंह, प्रभु जोशी, धीरेन्द्र अस्थाना, अभिमन्यु 'शबनम', चित्रा मुदगल, सिम्मी हर्षिता, डॉ. उषा यादव, स्वदेश दीपक, हेतु भारद्धाज, सूर्यबाला, सुनीता जैन, विमल शर्मा, मालती सिंह, अचला शर्मा आदि लेखक-लेखिकाओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

सभी प्रभृति कहानीकारों में एक कहानीकार डॉ. रमेश गुप्त ऐसे लेखक हैं, जिनके विषय में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त स्वयं बताते हैं कि- "डॉ. रमेश गुप्त ने कहानी के विभिन्न गुटों से दूर रहते हुए बाल-मनोविज्ञान पर आधारित अनेक उत्कृष्ट कहानियाँ लिखी हैं, जो 'अधखिले फूल' (कहानी संग्रह) में प्रकाशित है। इन कहानियों में बच्चों के संवेदनशील हृदय पर उनके माता-पिता एवं आस-पास के वातावरण के प्रभाव की प्रतिक्रिया का अंकन अत्यंत कुशलता से किया गया है।"[36]

इस प्रकार हमने देखा कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी विभिन्न आंदलनों के प्रभाव से निरुत्तर विकासोन्मुख होती गई, परन्तु यह संतोष करने योग्य बात है, कि- "हिन्दी कहानी अति यथार्थवाद, भोगवाद एवम् उच्छृंखलतावाद के चक्रव्यूह से निकलकर व्यापक सामाजिक एवम् राष्ट्रीय जीवन की ओर उन्मुख हुई।"[37] आज की कहानी में हम भारतीय गाँव, शहर तथा नगर के जीवन से जुड़ी विभिन्न वर्गो के चित्रण को सहज तथा स्वाभाविक रुप में देखते हैं। हमारे कहानीकार लेखन के क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्र चेतना, व्यापक दृष्टि तथा सहज अनुभूतियों का परिचय दें, जिससे कि हिन्दी कहानी विश्व कथा-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना सके।

(नोट : लेखकों के साथ कोष्ठक में उनके कहानी-संग्रहों के नाम दिए गए हैं।)

नाटक :

रंगमंच पर अभिनय के द्धारा प्रस्तुत करने की दृष्टि से लिखित गद्य या गद्य-पद्य मिश्रित रचना को नाटक या रुपक कहते आए हैं। "नाटक की उत्पत्ति के मूल में सामान्यतः चार मनोवृत्तियों को स्वीकार किया जाता है - (१) अनुकरण की प्रवृत्ति (२ पारस्परिक परिचय द्धारा आत्म-विस्तार की वृत्ति (३) जाति या समुदाय की रक्षा की प्रवृत्ति और (४) आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति। ये चारों प्रवृत्तियाँ मानव हृदय में सहज स्वाभाविक रुप में विद्यमान रहती हैं, अतः भारतीय नाटक के उद्‌भव के लिए किसी विशेष बाह्य परिस्थिति की खोज करना हमें अनावश्यक प्रतीत होता है फिर भी भारतीय नाटक की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर स्वदेशी एवम् विदेशी विद्धानों में गहरा वाद-विवाद हुआ है, तथा उन्होंने इस सम्बन्ध में विभिन्न मत स्थापित किए हैं। डॉ. रिज़वे (Ridgeway) के मतानुसार नाटक का उदय मृत वीरों की पूजा से हुआ है। उधर, डॉ. पिशेल भारतीय नाटकों का मूल लौकिक आधार मानते हुए कहते हैं कि नाटकों का उदय कठपुतलियों के नाच से हुआ।"[38]

हिन्दी के विद्धान डॉ. गुलाबराय ने इन मतों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए कहा कि- "ये सब कल्पनाशील विद्धान इस बात को भूल जाते हैं, कि भारतवर्ष में धार्मिक, सामाजिक और लौकिक कृत्यों में ऐसा भेद नहीं है, जैसा कि लोग समझते हैं। भारतवर्ष में धर्म मानव-जीवन का अंग है। इस देश का दुकानदार भी तो अपनी गोलक को महादेव की गोलक बताता है।"[39]

हिन्दी में नाटक साहित्य का उद्‌भव और विकास :

नाटक के उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध में भरतमुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में एक घटना का उल्लेख करते हुए यह बताया है, कि इसकी रचना ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के पश्चात् पाँचवे वेद के रुप में हुई है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि भारत में

परम्परा का विकास मिथिला और नेपाल दोनों प्रदेशों में साथ-साथ हुआ.... मैथिली नाटकों के प्रभाव से आसाम और उड़ीसा में भी कई नाटक लिखे गए, जिसमें, शिल्प, विषयवस्तु, भाषाशैली आदि की दृष्टि से परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है।"[42]

नेपाल और मिथिला में लिखे गए मैथिली नाटकों की परम्परा बीसवीं शती तक हमें अक्षुण्ण रुप में मिलती है। इनकी रचना मात्र रंगमंच पर अभिनय करने के लिए होती थी, इसलिए इनमें हमें अभिनेता का गुण मिलता है। इन नाटकों में गद्य व पद्य दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ।

<u>रासलीला नाटकों का विकास</u> : भारत के पूर्वी प्रदेशों मिथिला, उड़ीसा, आसाम आदि में जिस समय उपर्युक्त मैथिली नाटक साहित्य का विकास हो रहा था, वहीं दूसरी ओर व्रज प्रदेश में रासलीला नाटकों का भी उद्‌भव हुआ। "डॉ. दशरथ ओझा ने रासलीला नाटकों को जैन कवियों द्धारा रचित रासक या रासो काव्यों से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वास्तव में दोनों में कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। ब्रज प्रदेश में विकसित रासलीलाओं का मूल प्रेरणा स्त्रोत भागवत का रास सम्बन्धी वर्णन है.... आगे चलकर इस रास लीला का क्षेत्र कुछ व्यापक किया गया, और उसमें कथावस्तु के कुछ अंशों व दूसरे क्रिया-व्यापारों को स्थान दिया गया।"[43] रास लीलाओं में नृत्य और गान की प्रधानता अधिक है।

<u>पद्यबद्ध नाटक</u> : "सत्रहवीं और अठारहवीं शती में कुछ ऐसे पद्य-बद्ध नाटकों की रचना हुई जो शैली की दृष्टि से रास-लीलाओं से भिन्न हैं तथा जिनका अभिनय कदाचित् नहीं हुआ। इन नाटकों में रामायण महानाटक (1667 वि.); समयसार नाटक (बनारसीदास-1693 वि.), चण्डी चरित्र (गुरु गोविन्द सिंह), प्रबोध-चन्द्रोदय (यशवन्तसिंह-1700 वि.); शकुंतला नाटक (नेवाज़ - 1727 वि.) और सभासार नाटक (श्री रघुराम नागर सं. 1757 वि.); करुणाभरण (कृष्ण-जीवन लछीराम-1772 वि.) उपलब्ध हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भी इस प्रकार के नाटक और भी लिखे गए - माधव-विनोद नाटक, जानकी

रामचरित नाटक, रामलीला विहार नाटक, रामायण नाटक, प्रद्युम्न विजय नाटक, नहुष नाटक और आनन्द रघुनन्दन नाटक की रचना हुई। इन नाटकों में विशुद्ध पद्य का प्रयोग हुआ है, तथा 'नाटक' नाम के अतिरिक्त और कोई ऐसी विशेषता नहीं मिलती जिससे इन्हें नाटक कहा जा सके।"[44]

<u>आधुनिक युग का नाटक साहित्य :-</u>

"हिन्दी में नाटक के स्वरुप का समुचित विकास आधुनिक युग के आरम्भ से होता है। सन् 1850 से अब तक के युग को हम नाट्य रचना की दृष्टि से तीन खंडों में विभक्त कर सकते हैं -

1. भारतेन्दु युग - 1857 से 1900 ई. तक
2. प्रसाद युग - 1900 से 1930 ई. तक
3. प्रसादोत्तर युग - 1930 से अब तक।"[45] इनमें से प्रत्येक युग का संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है :-

<u>भारतेन्दु युग :</u>

"हिन्दी नाट्य परम्परा का सूत्रपात हिन्दी भाषा के विकास के साथ जुड़ा हुआ है, मगर हिन्दी नाटक की अपनी निजी पहचान की पूर्ण प्रतिष्ठा भारतेन्दु युग में ही संभव हुई। भारतेन्दु पूर्व नाटकों की भाषागत प्रवृत्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि उस युग के नाटकों में ब्रज, अवधी और परिनिष्ठित खड़ीबोली का संक्रमित प्रयोग चल रहा था।"[46] बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं हिन्दी का पहला नाटक अपने पिता 'बाबू गोपालचन्द्र' द्वारा रचित 'नहुष नाटक' को बताया है। "भारतेन्दु के नाटक मुख्यतः पौराणिक, सामाजिक एवम् राजनैतिक विषयों पर आधारित हैं - सत्यहरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, कर्पूरमंजरी, धनंजय विजय। ये चारों अनुवादित हैं। अपने मौलिक नाटकों में उन्होंने सामाजिक कुरीतियों एवम् धर्म के नाम पर होने वाले कुकृत्यों आदि पर तीखा व्यंग्य किया है। पाखण्ड, विडम्बन, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। इसी प्रकार के नाटक हैं।"[47]

आगे, "भारतेन्दु जी ने अपने मौलिक नाटकों में भाषा-भाव आदि को लेकर अनेक प्राणवान नाट्य प्रयोग भी किए। 'सत्य हरिश्चन्द्र' यद्यपि संस्कृत से अनूदित नाटक है, परन्तु प्रयोग की दृष्टि से बहुत सशक्त एवम् दिशा-बोधक बन गया है। भारतेन्दु की दृष्टि में भाषा और साहित्य को जन-जीवन से जोड़ने के लिए तथा भावों की सहज सुगम अभिव्यक्ति हेतुशैली के पद्यरुप की अपेक्षा गद्य रुप अधिक उपयोगी होता है।"[48] भारतेन्दु संस्कृत, बंगला, प्राकृत व अंग्रेजी के नाटक-साहित्य के ज्ञानी थे, उन्होंने समस्त नाट्यकला के सिद्धान्तों का भी सूक्ष्म अध्ययन किया था। उनके नाटकों में जीवन और कला, सौन्दर्य और शिव, मनोरंजन और लोक सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है।

"संस्कृत के कालिदास, भवभूति, शूद्रक, हर्ष आदि के नाटकों के हिन्दी अनुवाद लाला सीताराम, नन्दलाल, देवदत्त तिवारी, ज्वाला प्रसाद मिश्र ने तथा बँगला के पद्मावती, वीरनारी, कृष्णकुमारी आदि का अनुवाद बाबू रामकृष्ण वर्मा, उदित नारायण लाल, ब्रजनाथ आदि ने प्रस्तुत किए.... अंग्रेजी के शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद भी तोताराम, रत्नचन्द्र, मथुराप्रसाद उपाध्याय आदि के द्वारा किए गए।"[49] इन उत्कृष्ट नाटकों के हिन्दी अनुवाद से अनेक परवर्ती नाटककारों को प्रेरणा मिली।

भारतेन्दु युग या 19वीं शताब्दी के अन्य प्रमुख नाटककारों में - लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण दास, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी युग के अन्य मौलिक नाटक रचियताओं में - देवकीनन्दन त्रिपाठी शालिग्राम, खंगबहादूर मल्ल, बलदेव प्रसाद, तोताराम, अंबिकादत्त व्यास, दामोदर शास्त्री, ज्वाला प्रसाद मिश्र आदि हैं।

अन्त में, "भारतेन्दु युग में दो भाषाएँ साथ-साथ चल रहीं थीं। पद्य के लिए ब्रजभाषा और गद्य के लिए खडी बोली। भारतेन्दु के पूर्व गद्य के क्षेत्र में राजा शिवप्रसाद सिंह और

राजा लक्ष्मण प्रसाद सिंह का लम्बा विवाद चला था। किन्तु स्वयं भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग अपनाया था और गद्य-विद्याओं के प्रवर्त्तन में खड़ी बोली को माध्यम बनाकर, अपनी पूरी प्रतिभा लगायी। नाट्यकला की दृष्टि से भारतेन्दु का युग परीक्षण प्रयोग युग था। संक्षेप में, इस युग के भाषायी परिदृश्य पर देशी और विदेशी भाषाओं के प्रभाव की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।"[50]

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने खड़ीबोली गद्य के स्वरूप निर्माण के तीन रुप स्थिर किए थे - (1) हिन्दी के तद्भव एवं प्रचलित शब्दों का प्रयोग (2) उर्दू-फारसी के लोक व्यवहार में प्रचलित शब्दों का प्रयोग और (3) आवश्यकतानुसार संस्कृत के मूल स्त्रोत से शब्दों को ग्रहण करने की नीति।"[51]

"भारतेन्दु युग का नाटक साहित्य जनता के बहुत समीप था, तथा वह लोकरंजन और लोक-रक्षण दोनों के तत्वों से युक्त रहा है, उसका उस युग के जनसाधारण से लेकर विद्वानों तक में पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ तथा अपने युग को प्रभावित, जागृत एवं अनुरंजित करने की दृष्टि से उसका महत्व बहुत अधिक है - कलात्मक दृष्टि से भले ही वह उच्चकोटि का सिद्ध न होता हो।"[52]

<u>प्रसाद युग :</u>

हिन्दी नाटकों के विकास की दृष्टि से 'प्रसाद युग' का अपना एक विशिष्ट स्थान है - "प्रसाद से पहले हिन्दी नाटकों की भाषा अपने आरम्भिक चरण में थी। जयशंकर प्रसाद ने इस क्षेत्र में युगांतकारी और क्रान्तिकारी कदम उठाया, उन्होंने अपने नाटकों की भाषा में साहित्यिकता, रोचकता, काव्यमयता का पुट दिया।"[53] "इस युग के नाटक साहित्य को विषयगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है - (1) ऐतिहासिक (2) पौराणिक (3) काल्पनिक और (4) अनूदित नाटक। इनमें से प्रत्येक वर्ग का संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।"[54]

<u>ऐतिहासिक नाटक</u> : प्रसाद युग के सर्वप्रमुख नाटककार श्री जयशंकर प्रसाद ने विशेष रुप से ऐतिहासिक नाटकों की ही रचना की थी। उनके नाटकों के रचना-क्रम कुछ इस प्रकार हैं - "सज्जन (1910); कल्याणी परिणय (1912); करुणालय (1913); प्रायश्चित् (1914); राज्यश्री (1915); विशाख (1921); अजातशत्रु (1922); जनमेजय का नागयज्ञ (1926); स्कन्दगुप्त (1928); एक घूँट (1929); चन्द्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933)"[55]

प्रसाद जी ने अपनी रचनाओं में विशेष रुप से देशवासियों के आत्मगौरव उनके उत्साह, स्वाभिमान तथा प्रेरणा का संचार करने जैसी अतीत के गौरवपूर्ण दृश्यों को चित्रित किया है। उनके ज्यादातर नाटकों का कथानक बौद्ध-युग से सम्बन्धित दिखाई देता है।

प्रसाद जी ने प्राचीन भारतीय इतिहासऔर संस्कृति को बड़ी सूक्ष्मता से अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है, उसमें न केवल उस युग की स्थूल रेखाएँ मिलतीं हैं, बल्कि तत्कालीन वातावरण के सजीव अंकन की रंगीली छबि भी प्राप्त होती है। प्रसाद जी ने धर्म की बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा दर्शन की अन्तरंग गुत्थियों को स्पष्ट करना अधिक उचित समझा। उन्होंने मानव-चरित्र के सत्-असत् दोनों पक्षों को पूर्ण प्रतिनिधित्व प्रदान किया है, और दूसरी तरफ नारी रुप को ऐसी महानता, सूक्ष्मता, शालीनता एवम् गम्भीरता मात्र कवि प्रसाद के हाथों ही प्राप्त हुई थी, उससे भी कहीं अधिक सक्रिय एवं तेजस्वी रुप उसे नाटककार प्रसाद ने प्रदान किया है।

यदि हम प्रसाद जी के नाटकों को शिल्प की दृष्टि से देखें तो उनमें पूर्वी और पश्चिमी दोनों तत्वों का सम्मिश्रण हमें प्राप्त होता है। एक ओर, जहाँ उनके नाटकों में भारतीय नाट्य-साहित्य में विभिन्न परम्पराओं का पालन हुआ है, वहीं दूसरी ओर, पाश्चात्य नाटकों का संघर्ष एवं व्यक्ति वैचित्र्य का निरुपण भी हुआ है। भारतीय नाटकों की

रसात्मकता के साथ-साथ प्रसाद जी की रचनाओं में पाश्चात्य नाटकों की सी कार्य-व्यापार की गतिशीलता भी हमें मिलती है।

रंगमंच व अभिनय की दृष्टि से भी प्रसाद जी के नाटकों में कई दोष मिलते हैं - जैसे - कथानक का विस्तृत होना, लम्बे-लम्बे स्वगत-कथन, गीतों का अत्यधिक प्रयोग, दर्शन-शास्त्र की जटिल उक्तियों का समावेश, संस्कृत-गर्भित भाषा, वातावरण की गंभीरता आदि बातें उनके नाटकों की अभिनेयता में बाधक सिद्ध होती हैं। यद्यपि, अपने नाटकों में जयशंकर प्रसाद नाटककारों के रुप में कम और दार्शनिक तथा कवि रुप में ज्यादा नज़र आते हैं। इस युग के अन्य ऐतिहासिक नाटकों में - 'बद्रीनाथ भट्ट' की चन्द्रगुप्त, दुर्गावती, तुलसीदास; 'मुंशी प्रेमचन्द' की कर्बला; 'सुदर्शन' की दयानन्द; 'पांडेय बेचन शर्मा उग्र' की महात्मा ईसा; 'जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द' की प्रताप-प्रतिज्ञा; 'गोविन्द वल्लभ पन्त' की वरमाला; 'चन्द्रराज भंडारी' की सम्राट अशोक आदि उल्लेख्य हैं।

<u>पौराणिक नाटक</u> : "पौराणिक नाटकों की एक सशक्त परम्परा का प्रवर्तन इस युग से बहुत पूर्व ही भारतेन्दु-मंडल के विभिन्न लेखकों द्वारा हो चुका था।"[56] प्रसाद युग के नाटकों का कलात्मक दृष्टि से अधिक विकास नहीं हुआ, किन्तु जन-साधारण में इसका प्रचार इतना ज्यादा हुआ, कि उसकी हम उपेक्षा तक नहीं कर सकते। प्रसाद जी ने अपने नाटकों के द्वारा जनता की धार्मिक रुचि के परिष्कार तथा मनोरंजन की इच्छा को संतुष्ट करने का कार्य किया है।

इस युग के उल्लेखनीय पौराणिक नाटकों के नाम इस प्रकार हैं - "गंगा प्रसाद कृत रामाभिषेक नाटक (1910); ब्रजनन्द कृत रामलीला नाटक (1908); गिरिधर लाल का रामवन यात्रा (1910); नारायण सहाय का रामलीला नाटक (1911); रामगुलाम का धनुषयज्ञ लीला (1912); महावीर सिंह का नल-दमयन्ती (1905); गौचरण गोस्वामी का अभिमन्यु-वध (1906); लक्ष्मीप्रसाद का उर्वशी (1910); शिवनन्दन सहाय का सुदामा

नाटक (1907); ब्रजनंदन सहाय का उद्धव (1909); रामनारायण मिश्र का कंस-वध (1910); परमेश्वर मिश्र का रुपवती (1907); हरि नारायण का कामिनी-कुसुम (1907); रायदेवी प्रसाद का चन्द्रकला-भानुकुमार (1904) आदि।"[57]

उपर्युक्त सभी नाटक सामान्यतः साधारण कोटि के हैं, इन नाटकों में हमें उस युग के पारसी रंगमंच की प्रवृत्तियों का प्रभाव भी स्पष्ट रुप से दिखाई देता है। प्रसाद युग के अन्य नाटककारों में - राधेश्याम कथावाचक (वीर अभिमन्यु, कृष्णावतार, रुक्मिणी-मंगल, श्रवणकुमार); आगा हश्र (गंगावतरण, वनदेवी, सीता-वनवास, (श्रवणकुमार, भीष्म-प्रतिज्ञा) और नारायण प्रसाद 'बेताब' के (महाभारत, कृष्ण-सुदामा, गणेशजन्म, शकुन्तला) आदि के नाम मुख्य रुप से उल्लेखनीय हैं, इन्होंने जन-साधारण के मनोरंजन हेतु तथा नाटक मंडलियों के लिए अनेक पौराणिक नाटक प्रस्तुत किए।

"वस्तुतः इन तीनों लेखकों के नाटक पौराणिक एवं काल्पनिक कथावस्तु पर आधारित शिक्षाप्रद एवं अत्यन्त रोचक है, किन्तु उनमें सुरुचि और स्वाभाविकता का निर्वाह सर्वत्र नहीं मिलता। साहित्यिकता एवं कला की दृष्टि से भी ये उच्चकोटि के नहीं माने जाते।"[58]

<u>कल्पनाश्रित नाटक</u> : वे नाटक जिनकी कथावस्तु केवल इतिहास-पुराण पर आधारित नहीं होती, बल्कि मात्र विशुद्ध कल्पना पर ही आश्रित होती है, वह कल्पनाश्रित नाटक कहलाते हैं। इन नाटकों के दो भेद किए गए (१) प्रहसन और (२) सामाजिक नाटक। प्रहसनों के अन्तर्गत मुख्य रुप से जो नाटक आते हैं, वे हैं - 'जी.पी. श्रीवास्तव' के दुमदार आदमी(1919), उलटफेर (1919), मर्दानी औरत (1920), गड़बड़ झाला, कुरसी मैन, साहित्य का सपूत, न घर का न घाट का आदि; 'बेचन शर्मा 'उग्र" के उज़बक और चार बेचारे;बद्रीनाथ भट्ट के चुंगी की उम्मीदवारी (1919), लबड़-धोंधों(1926), विवाह विज्ञापन (1927), मिस अमेरिकन (1929); 'सुदर्शन' का ऑनरेरी मजिस्ट्रेट।

इन प्रहसन नाटकों में नाटककारों ने समाज के सभी वर्गों की कुत्सित और असामाजिक क्रियाकलापों पर करारा व्यंग्य चित्रित किया है, परन्तु फिर भी इन नाटकों का स्तर उच्चकोटि का नहीं है - "अस्तु अनेक दोषों के होते हुए भी इन प्रहसनों ने समाज-सुधार एवम् लोकरंजन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति में न्यूनाधिक योग अवश्य दिया है। दूसरे, सामाजिक नाटकों में मुख्यतः हैं - मिश्र बन्धुओं का नेत्रोन्मीलन (1915); मुन्शी प्रेमचन्द का संग्राम (1922); लक्ष्मणसिंह का गुलामी का नशा (1924); जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का मधुर-मिलन(1923); जमुनादास मेहरा का पाप-परिणाम; घनानन्द बहुगुणा का समाज (1930) आदि।"[59]

इन नाटककारों ने अपनी इन रचनाओं के द्वारा समाज में निहित विभिन्न बुराईयों को उद्घाटित किया है, परन्तु इनकी उद्घाटन की शैली प्रहसनों की अपेक्षा अधिक गम्भीर और प्रौढ है। इन नाटकों के सन्दर्भ में डॉ. वेदपाल खन्ना लिखते हैं - "जहाँ प्रहसनों में हास्य की सृष्टि करने के उद्देश्य से जीवन का अतिश्योक्तिपूर्ण चित्रण किया गया है, वहाँ गम्भीर नाटकों में जीवन के सभी पक्षों का वास्तविक एवम् यथार्थ चित्रण किया गया है। बीच-बीच में कहीं पर शिष्ट और संयत हास्य की अवतारणा भी इन नाटकों में की गई है।"[60]

<u>अनूदित नाटक</u> : प्रसाद युग में संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी आदि जैसी भाषाओं के कई नाटकों के अनुवाद विभिन्न लेखकों द्वारा हुए। सत्यनारायण 'कविरत्न' ने संस्कृत भाषा से, बाबू रामचन्द्र वर्मा तथा रुपनारायण पांडेय ने बँगला भाषा से तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कई नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया है। द्विजेन्द्र लाल राय के ऐतिहासिक नाटकों जैसे - राणा प्रताप, मेवाड़-पतन, दुर्गादास, नूरजहाँ, भीष्म चन्द्रगुप्त आदि नाटकों के अनुवाद भी प्रस्तुत किए। अंग्रेजी से जॉन गाल्सवर्दी के भी तीन नाटकों का अनुवाद मुन्शी प्रेमचन्द तथा ललित प्रसाद शुक्ल के द्वारा किए गए, जिनमें - न्याय, हड़ताल, चॉदी की डिबिया आदि मुख्य हैं।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
THE MAHARAJA SAYAJIRAO UNIVERSITY OF BARODA
M. S. University

"इस प्रकार अनुवादों के माध्यम से भी हिन्दी का नाट्य-साहित्य विश्व-साहित्य की विभिन्न प्रतिभाओं के सम्पर्क में आया, तथा उससे न्यूनाधिक प्रभाव ग्रहण किया।"

<u>प्रसादोत्तर युग</u> :- इस युग तक पहुँचते-पहुँचते हमारे देश पर पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का काफी प्रभाव जम चुका था। "प्रसादोत्तर युग में पाश्चात्य सभ्यता और पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की चकाचौंध से स्तम्भित नाटककारों ने परम्परागत नाट्यादर्शों को पुराना समझकर छोड़ना आरम्भ कर दिया.... पश्चिमी वादों के आधार पर जीवन की वैज्ञानिक, बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक व्याख्या विदेशी शब्दकोष की सहायता से करने लगे। फलतः भरतमुनि के स्थान पर 'इब्सन' और 'शॉ' उनके नाट्यगुरु बन गए। इस युग के नाटकों का मुख्य विषय समसामयिक जीवन की सामान्य समस्याएँ रही हैं। इन नाटकों का नाम 'समस्या नाटक' दिया गया, और इनमें सामान्य मनुष्यों को पात्रों के रुप में प्रस्तुत किया जाने लगा। भूख, गरीबी, अन्याय, यौन और पात्रों का आन्तरिक अन्तर्द्वन्द प्रसादोत्तर युग के नाटकों का मेरुदण्ड बन गए।"[62] प्रसाद-युग की तरह ही प्रसादोत्तर युग के नाटकों का भी वर्गीकरण किया गया - (१) ऐतिहासिक नाटक (२) पौराणिक नाटक (३) कल्पनाश्रित नाटक और (४) प्रतीकवादी नाटक।

<u>ऐतिहासिक नाटक</u> :- प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का विकास पर्याप्त मात्रा में हुआ। इस क्षेत्र में मुख्यतः हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों में - रक्षाबन्धन (1934), शिवसाधना (1937), प्रतिशोध (1937), स्वप्नभंग (1940), उद्धार (1949), शपथ (1951), भग्न प्राचीर (1954), कीर्तिस्तम्भ (1955), संरक्षक (1958), संवत प्रवर्त्तन (1959), आन का मान (1961) आदि - "प्रेमी जी ने अपने नाटकों में अति प्राचीन या सूदूर पूर्व के इतिहास को न लेकर प्रायः मुस्लिम कालीन भारतीय इतिहास को लेते हुए उसके सन्दर्भ में आधुनिक युग की अनेक राजनीतिक, साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है..... उन्होंने इतिहास का उपयोग रोमांस की सृष्टि के लिए नहीं किया, अपितु आदर्शों की स्थापना के लिए किया

है।"[63]

वस्तुतः इनके नाटक उन सभी दोषों से मुक्त हैं, जो प्रसाद के नाटक साहित्य में मिलते हैं। दूसरे, वृन्दावनलाल वर्मा के नाटकों में – झाँसी की रानी (1948), पूर्व की ओर (1950), ललित विक्रम (1953) आदि हैं। वर्मा जी एक इतिहास विशेषज्ञ थे, और उनकी यह विशेषज्ञता उपन्यास और नाटक दोनों ही के माध्यम से व्यक्त होती है। डॉ. जयनाथ 'नलिन' के शब्दों में कहा जा सकता है, कि – "वर्मा जी का यह प्रयास रहा है, कि इनके नाटक जन-साधारण की पहुँच के बाहर न हो। भले ही इनके द्वारा किसी नवीन कला या टैकनीक का निर्माण न हुआ हो, महान् चरित्रों की भी सृष्टि वे नहीं कर सके, पर सर्वसाधारण के लिए इन्होंने अच्छे शिक्षाप्रद नाटकों की रचना अवश्य की। यही वर्मा जी की सबसे बड़ी सफलता है।"[64]

इन नाटककारों के अतिरिक्त गोविन्द वल्लभ पन्त, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उदयशंकर भट्ट, सियारामशरण गुप्त, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सत्येन्द्र, बैकुण्ठनाथ दुग्गल, बनारसीदास करुणाकर, आ. चतुरसेन शास्त्री, देवराज दिनेश आदि। इनकी रचनाओं का समयकाल 1935 से लेकर 1954 तक का रहा, जिसमें इन नाटककारों ने उच्चकोटि के ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। कुछ लेखकों ने तो जीवनीपरक नाटकों की भी रचना की, यथा – सेठ गोविन्ददास ने 'भारतेन्दु' (1955); 'रहीम' (1955) तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'कवि-भारतेन्दु' (1955) आदि। हम इन्हें भी ऐतिहासिक नाटकों में स्थान दे सकते हैं।

"ऐतिहासिक नाटकों की उपर्युक्त सुची से इनकी प्रगति एवं अभिवृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ इनके विस्तृत विश्लेषण व विवेचन के लिए अवकाश नहीं है, किन्तु सामान्य रुप में कहा जा सकता है कि इनमें इतिहास और कल्पना का सन्तुलित संयोग मिलता है। अधिकांश नाटकों में इतिहास की केवल घटनाओं को ही नहीं अपितु उनके सांस्कृतिक वातावरण को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है..... कदाचित् भारतीय

इतिहास का कोई ऐसा महत्वपूर्ण युग और विशिष्ट पात्र न होगा, जिस इन नाटककारों ने प्रस्तुत न किया हो – अवश्य ही अभी भारतीय इतिहास तथा विश्व इतिहास में से बहुत कुछ ऐसा बाकी है, जिसे नया नाटककार अपना सकता है।"[65]

पौराणिक नाटक : प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक नाटकों के साथ-साथ पौराणिक नाटकों की परम्परा का भी उत्तरोत्तर विकास हुआ। डॉ. देवर्षि सनाढ्य शास्त्री ने अपने शोध-प्रबन्ध में पौराणिक नाटकों के विषय में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि – "अब हम अपने प्राचीन चरित्रों के प्रति अपनापन अनुभव करने लगे हैं, वे इसी धरती के हैं, हमारे जैसे, संकटों को सहन करते हुए, हमारी जैसी समस्याओं का समाधान करते हुए। वे आकाश के अस्पृश्य देवता नहीं, हमारे समाज के प्रतिदिन सम्पर्क में आनेवाले मानव हैं।"[66]

विभिन्न लेखकों ने पौराणिकता को ग्रहण करते हुए कई उत्कृष्ट नाटकों की रचना की, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार से है – आ. चतुरसेन शास्त्री का मेघनाद, राधाकृष्ण (1936); रामवृक्ष बेनीपुरी का सीता की माँ; सेठ गोविन्ददास का कर्त्तव्य (1935); वीरेन्द्र कुमार गुप्त का सुभद्रा परिणय; कैलाशनाथ भटनागर का श्री वत्स (1941); डॉ. लक्ष्मण सिंह स्वरुप का नल-दमयन्ती(1941); तारा मिश्रा का देवयानी (1944); प्रेमनिधि शास्त्री का प्रणपूर्ति (1950); उमाशंकर बहादूर का वचन का मोल (1951); जगदीश का प्रादुर्भाव (1955); सूर्यनारायण मूर्ति का महानाश की ओर (1960) आदि।

इन पौराणिक नाटकों की अपनी कई विशेषताएँ हैं, पहली, इनकी कथावस्तु पौराणिक होते हुए भी उसके ब्याज से आज की समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। दूसरी, प्राचीन संस्कृति के आधार पर पौराणिक गाथाओं के असम्बद्ध एवम् असंगत सूत्रों में सम्बन्ध और संगति स्थापित करने का प्रयास और तीसरी, ये नाटक हमें आज के जीवन की संकीर्णताओं तथा सीमाओं से ऊपर उठाकर जीवन की व्यापकता एवम् विशालता का संदेश देते हैं। अस्तु "इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ये नाटक विषय-वस्तु की दृष्टि से पौराणिक होते हुए प्रतिपादन शैली एवं कला के विकास की दृष्टि से आधुनिक हैं। तथा वे आज के समाज की रुचि एवं समस्याओं के प्रतिकूल नहीं हैं।"[67]

<u>कल्पनाश्रित नाटक</u> : प्रसादोत्तर युग के इन कल्पनाश्रित नाटकों को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। यह विभाजन उनकी मूल प्रवृत्ति की दृष्टि के आधार पर किया गया है, जो इस प्रकार है - समस्या-प्रधान नाटक; भाव-प्रधान नाटक और प्रतीकात्मक नाटक।

<u>समस्या-प्रधान नाटक :</u> इन नाटकों का चलन पाश्चात्य नाटककारों मुख्यतः बर्नार्ड शॉ, इबसन आदि के प्रभाव से हुआ है। पाश्चात्य नाटक के क्षेत्र में रोमांटिक नाटकों के अलावा यथार्थवादी नाटकों का भी विकास हुआ, जिसमें सामान्य जीवन की समस्याओं का समाधान विशुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण से देखा गया। इन नाटकों में खास तौर पर यौन समस्याओं को ही प्रमुखता दी गई। बाह्य द्वन्द की अपेक्षा आन्तरिकता को अधिक दर्शाया गया है। समस्या-प्रधान नाटकों को हम विषय-वस्तु की दृष्टि से दो उपभेदों में विभक्त कर सकते हैं - सामाजिक और मनोवैज्ञानिक।

सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में उपेन्द्रनाथ अश्क, वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी आदि का महत्वपूर्ण योग रहा है। 'उपेन्द्रनाथ 'अश्क' न तो विशुद्ध यथार्थवादी थे, और न ही आदर्शवादी , इसलिए उन्हें 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कहना ही उचित है। उन्होंने अपनी रचनाओं में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं का चित्रण यथार्थ के स्तर पर किया है, तथा इनके मूल में सुधार की भावना भी लक्षित होती है, जो कि आदर्शवाद की सूचक है। अपने अनेक नाटकों में इन्होंने आधुनिक समाज की धन-लोलुपता, स्वार्थपरता, अनैतिकता, कामुकता आदि का चित्रण भी यथार्थवादी शैली में किया है। साथ ही, " 'अश्क' की नाट्यकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समस्याओं और समाधानों को उपदेशात्मक एवं गम्भीर रुप में प्रस्तुत नहीं करते, अपितु उनका निदर्शन हास्य-व्यंग्यमयी शैली में करते हैं, जिससे उनका प्रभाव और अधिक तीखा हो जाता है।"[68] उनके प्रमुख नाटकों में - स्वर्ग की झलक (1939), कैद (1945), उड़ान (1949), छठा बेटा (1949), अलग-अलग रास्ते (1955) आदि उल्लेखनीय हैं

अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है, कि उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटक सामाजिक उद्देश्य, रंगमंचीय कुशलता तथा मनोरंजन की क्षमता तीनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं।

'वृन्दावनलाल वर्मा' ने न केवल ऐतिहासिक उपन्यासों और नाटकों में ही सफलता पाई, वल्कि सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में भी उन्होंने काफी सफलताएँ अर्जित की हैं। उनके सामाजिक नाटकों में मुख्य हैं - राखी की लाज (१९४३), बाँस की फाँस (१९४७), खिलौने की खोज (१९५०), केवट (१९५१), नीलकंठ व सगुन (१९५१), निस्तार व देखादेखी (१९५६) आदि। वर्मा जी ने इन नाटकों में जाति-पाँति, ऊंच-नीच, सामाजिक वैषम्य, विवाह, नेताओं की स्वार्थ-परायणता आदि से सम्बन्धित समस्याओं का चित्र प्रस्तुत किया है। डॉ. दशरथ सिंह ने वर्मा जी के नाटकों की विशेषता को दर्शाते हुए कहा है कि - "उनके नाटक रुढ़िगत परम्परा से मुक्त हैं, उनमें कल्पना और भावना का उन्मुक्त तथा संयत उन्मेष है, अन्वितियों का अभाव है उनमें विद्यमान तत्व हैं - देश-प्रेम, जाति-प्रेम, मानव-प्रेम, कला-प्रेम तथा संस्कृति-प्रेम, जिनकी अभिव्यक्ति भावनाओं और कल्पनाओं से अनुरंजित है। आकस्मिकता, कौतूहल, अप्रत्याशितता आदि तत्वों की भी भरमार है।"[69]

अभिनय और रंगमंच की दृष्टि से भी उनके नाटक सफल माने गए हैं। अतः उपन्यास और नाटक जैसी दो भिन्न प्रकार की विद्याओं में एक जैसी सफलता अर्जित कर लेना डॉ. वर्मा की विशिष्ट प्रतिभा का प्रमाण है।

सेठ गोविन्द दास ने पौराणिक और ऐतिहासिक आदि विषयों के अलावा सामाजिक समस्याओं का चित्रण भी अपने नाटकों में किया है। उनके रचित सामाजिक नाटकों में विशेष हैं - सेवा-पथ, कुलीनता (१९४०);, सिद्धान्त स्वातन्त्र्य (१९३८); त्याग या ग्रहण (१९४३); दुःख क्यों?(१९४६); संतोष कहाँ (१९४५); महत्व किसे (१९४७); बड़ा पापी कौन? (१९४८) आदि उल्लेख्य हैं। सेठ जी निरुद्देश्य भटकने वाले कलाकारों में से नहीं थे, उनका उद्देश्य व लक्ष्य उन्हीं की तरह स्पष्ट है। उन्होंने अपने नाटकों में आधुनिक युग की सामाजिक,

राजनैतिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं का सफलतापूर्वक चित्रण प्रस्तुत किया है। किन्तु, उनकी कुछ रचनाओं में रोचक घटनाओं तथा कार्य-व्यापार की गतिशीलता व आकस्मिकता का अभाव भी दिखाई देता है, जिसके कारण सामान्य पाठक के मन में किसी प्रकार की भावना उत्पन्न नहीं हो पाती, फिर भी उनके कुछ नाटक उच्चकोटि की श्रेणी में आते हैं, जिनमें लोकमंगल तथा लोक-रंजन की भावनाओं का सुन्दर मेलजोल हमें दिखाई देता है।

इस युग के अन्य सामाजिक नाटककारों व उनकी रचनाओं में - गोविंद वल्लभ पंत के द्वारा रचित - अंगूर की वेटी और सिन्दूर की बिन्दी (१९३७); पृथ्वी नाथ शर्मा का दुविधा (१९३८), अपराधी (१९३९), साथ (१९४४); उदयशंकर भट्ट का कमला (१९३९), मुक्तिपथ (१९४४), क्रान्तिकारी (१९५३); हरिकृष्ण प्रेमी का छाया; प्रेमचन्द का प्रेम की वेदी (१९३३); जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का समर्पण (१९५०); दयानाथ झा का कर्मपथ (१९५३); रघुवीर शरण मित्र का भारतमाता (१९५४); रामनरेश त्रिपाठी का पैसा-परमेश्वर आदि उल्लेखनीय हैं।

नाटककार गोविन्द वल्लभ पंत के नाटकों की विशेषता दर्शाते हुए 'डॉ. जयनाथ नलिन' कहते हैं - "पन्त जी में नाटकीय घटना की पकड़ की अपूर्व प्रतिभा है, कौतूहल जगाने की अनुपम क्षमता है और रोमांचकारी वातावरण को उपस्थित करने के कला है, घटनाओं की गतिशीलता देने की शक्ति है, अभिनय कला की उन्हें खूब परख है।"[70]

मनोवैज्ञानिक नाटकों में विशेष तौर से काम-सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण यौन-विज्ञान के आधार पर प्रस्तुत किया गया। इन नाटकों में अन्य नाटककारों के होते हुए भी मुख्य रुप से लक्ष्मी नारायण मिश्र का नाम आता है। उनके नाटकों में - संन्यासी, राक्षस का मंदिर(१९३१), मुक्ति का रहस्य (१९३२), सिन्दुर की होली (१९३४), आधी रात (१९३७) आदि हैं। उन्होंने अपने इन नाटकों में यथार्थवाद, बौद्धिकतावाद तथा फ्रायडवाद को प्रमुखता दी है। इन्होंने पाश्चात्य नाटककार 'इब्सन' और 'शॉ' के रोमांसवादी दृष्टिकोण का

खंडन किया। मिश्र जी ने फ्रायडवादी दृष्टिकोण पर बल देते हुए तथा काम-वासना आदि को जीवन की आधारभूत शक्ति के रुप में मानते हुए यौन-संबंधों का उन्मुक्त रुप से समर्थन किया है। नाट्यकला तथा अभिनेयता की दृष्टि से भी उनके अनेक नाटक दोषपूर्ण हैं। फिर भी एक नए दृष्टिकोण को लेकर चलने के कारण इन्हें अधिक ख्याति प्राप्त हुई, तथा हिन्दी नाटककारों की पंक्ति में विशिष्ट स्थान भी प्राप्त हुआ।

<u>भाव-प्रधान नाटक</u> : कल्पनाश्रित नाटकों के दूसरे वर्ग में भाव-प्रधान नाटकों का स्थान आता है, जिन्हें शैली की दृष्टि से 'गीति-नाटक' भी कह सकते हैं। इन नाटकों में भाव की प्रमुखता के साथ-साथ पद्य भी अपेक्षित होता है। आधुनिक युग में लिखा गया हिन्दी का पहला गीति-नाटक 'जयशंकर प्रसाद' द्वारा रचित करुणालय (१९१२) माना जाता है। प्रसाद के बाद एक लम्बे समय तक गीति-नाटकों के क्षेत्र में कोई नया परिवर्तन नहीं आया, किन्तु इसके पश्चात् कई गीति-नाटक लिखे गए। जैसे - हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा 'स्वर्ण-विहान'; उदयशंकर भट्ट द्वारा 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'राधा'; मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा 'अनघ'; सेठ गोविन्द दास के द्वारा 'स्नेह या स्वर्ग'; भगवती चरण वर्मा द्वारा 'तारा' आदि।

<u>प्रतीकात्मक नाटक</u> : इन नाटकों की परम्परा की शुरुआत हम प्रसाद के 'कामना' नाटक से मान सकते हैं। इसके पश्चात् लिखे गए प्रतीकात्मक नाटकों में - भगवती प्रसाद वाजपेयी का छलना; सुमित्रानन्दन पंत का ज्योत्सना; सेठ गोविन्द दास का नवरस; कुमार हृदय का नवशे का रंग आदि। आगे चलकर, और भी लेखकों ने इस वर्ग के नाटकों के माध्यम से आधुनिक जीवन की विसंगतियों को उद्घाटित करने का सफल प्रयास भी किया, जिसमें डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है, उनकी रचनाओं में - मादा कैक्टस, सुन्दर रस, दर्पण आदि हैं।

<u>हिन्दी नाटक : साठोत्तर परम्परा का परिचय</u> :-

"सन् साठ तक हिन्दी नाटक पर उस किस्म की विचारोत्तेजक चर्चाओं का अभाव-

सा था, जो कविता, कहानी और उपन्यास को लेकर हो रहीं थीं। केन्द्रीय विद्या होने की होड़ में नाटक कहीं नहीं था। लेकिन साठ के बाद हिन्दी नाटक जैसे अपना मुहावरा प्राप्त-सा कर लेता है, और अपनी विद्यागत मौलिकता, जटिलता और सर्जनात्मक का सबूत देने लगता है।"[71] कथ्य की दृष्टि से साठोत्तरी हिन्दी नाटक की अपनी कई कोटियाँ हैं। इस दौरान कई नाटकों की रचना सम्बन्धों की अर्थहीनता और क्रूरता के ईर्द-गिर्द हुई। "इतिहास-पुराण की सामग्री लेकर सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों पर पड़ताल करने वाले नाटकों की संख्या भी अच्छी खासी रही। इनमें कुछ नाटक ऐतिहासिकता के बोध तक ही सीमित हैं, जबकि कुछ मिथकों की जाँच और पुनर्व्याख्या करते दिखाई देते हैं।"[72]

सन् साठ के नाटकों के कथ्य से गुजरने पर ऐसा प्रतीत होता है, कि इनका 'एप्रोच' यथार्थ के प्रति रोमांटिक है। इस विचारधारा के नाटककार या तो अतीतजीवी होता है, या कल्पनाजीवी मगर साठोत्तरी के हिन्दी नाटककार स्वयं को छायावादी दृष्टिकोण से अलगाते हुए दिखाई देते हैं। मानव-सम्बन्धों की विचारधारा को लेकर इस समय कई नाटक लिखे गए, जिसमें जिन्दगी की सार्थकता को व्यक्त करने का सफल प्रयास किया गया। "साठोत्तरी अवधि के पूर्व भी मानव-सम्बन्धों को आधार बनाकर अनेक हिन्दी नाटक लिए गए हैं, पर उनमें प्रेम एवं उसकी मर्यादा की उदात्तता का निर्वाह करना नाटककारों का अभीष्ट रहा है, आज का नाटककार शालीनता एवं मर्यादा के आडम्बर तथा मुखौटे में अपने को छुपाने की प्रवृत्ति मानकर स्थितियों का खुला चित्रण करना ही अपनी उपलब्धि मानता है।"[73]

"ऐतिहासिक और पौराणिक दृष्टि से आलोच्य अवधि में नाट्य-लेखन की लम्बी परम्परा रही है। नए नाट्य-लेखकों ने पूर्ववर्ती रचनाकारों की लेखनगत विशेषता को स्वीकार किया है, लेकिन ज्यों का त्यों नहीं। उन्होंने रचना-लेखन की कथ्यगत चेतना में परिवर्तन करते हुए दो प्रकार की साहित्य धाराओं का निर्माण किया है - (क) इतिहास, पुराण की कथा या घटना द्वारा मात्र अतीत को उभारने वाली नाट्यकृतियाँ और (ख) इतिहास, पुराण की कथा, घटना, पात्र द्वारा वर्तमान विसंगतियों को उठाने वाली नाट्य

कृतियाँ।"[74]

इतिहास और पुराण की सार्थकता का उपयोग न करके अतीत को उभारने वाली नाट्य-कृतियों में प्रमुख हैं – अशोक का शोक (रामकुमार वर्मा); अमर आन (हरिकृष्ण प्रेमी); विद्रोहिणी अम्बा (उदयशंकर भट्ट); अधूरी मूर्ति (गोविंद वल्लभ पंत); कुरुक्षेत्र का सवेरा (जयशंकर त्रिपाठी); निजाम सक्का (हरसरन सिंह); सिकन्दर (सुदर्शन); बिहार का शेर (श्यामलाल मधुप) आदि।

दूसरी साहित्य धारा जिसमें पुराण की कथा, घटना व पात्र के द्वारा वर्तमान युग की विसंगतियों को सन्दर्भों तथा मिथकों के सार्थक उपयोग से बेनकाब किया। इन नाट्य-कृतियों में विशेष हैं – सत्य हरिश्चन्द्र (लक्ष्मीनारायण लाल); पहला राजा (जगदीशचन्द्र माथुर); त्रिशंकु (बृजमोहन शाह); नारद मोह (सरजूप्रसाद मिश्र); हत्या एक आकार की (ललित सहगल); एक और द्रोणाचार्य (शंकर शेष); छोटे सैयद बड़े सैयद (सुरेन्द्र वर्मा) आदि उल्लेखनीय हैं। 'समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक' शीर्षक नामक नाट्यालोचन ग्रन्थ में डॉ. रमेश गौतम ने इस ग्रन्थ की स्थापना करते हुए लिखा है – "आधुनिक नाटककारों ने एक खास दृष्टि से इतिहास-पुराण का उपयोग किया है। वह पौराणिक आख्यानों में आधुनिक सम्भावनाओं की खोज करता है। उनकी कृतियों में पौराणिकता प्रायः मौन और आधुनिक चेतना तथा समकालीन मानवीय स्थितियों की विडम्बना अधिक मुखर है। स्वातन्त्र्योत्तर रचनाकारों ने अतीत के अप्रकाशित अंश को प्रकाशित करने की अपेक्षा उन्हीं विशिष्ट अंशों एवम् सार्थक सन्दर्भों की ओर ध्यान दिया, जो समकालीन जिन्दगी को उद्घाटित करें। वे प्राचीनता में एक विशिष्टता की खोज करते हैं, जो तथ्यपरक न होकर अपनी अर्थवत्ता में सार्थक क्षणों को वहन कर सकें।"[75]

सन् साठ के बाद रचित नाटकों में सबसे अधिक उल्लेखनीय नाटक वे हैं, जो असंगति और विडम्बना, व्यवस्था आदि में निहित भ्रष्टाचार से मेल कराते हुए यथास्थितिवादी जैसी

शक्तियों पर जमकर चोट करते हैं, क्योंकि इनका कैनवास अपेक्षाकृत व्यापक होता है, और दृष्टिकोण स्पष्ट। इन नाटकों में जीवन की मूल्यवत्ता पूर्ण रुप से साकार हो उठती है। इन नाटकों में मुख्य हैं - पंचपुरुष (लक्ष्मीनारायण लाल); जनता का सेवक (कणादऋषि भटनागर); सिंहासन खाली है (सुशील कुमार); बकरी (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना); शुतुरमुर्ग (ज्ञानदेव अग्निहोत्री); एक था गधा उर्फ आलादाद खाँ (शरद जोशी) ; बुलबुल सराय (मणि मधुकर); कुत्ते (सुरेशचन्द्र शुक्ल); कबिरा खड़ा बाजार में (भीष्म साहनी) आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ और नाटक जो आज़ादी के बाद जन्मे मोहभंग की पीड़ा को कभी सीधे तरीके से या कभी संकेत में उनकी सामाजिक चेतना को प्रस्तुत किया। ये नाटक हैं - आँधी और घर (मोहन चोपड़ा); लोटन (विपिनकुमार अग्रवाल); सब रंग मोह भंग (लक्ष्मीनारायण लाल); न्याय की एक रात (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार) आदि। युवा लेखकों ने मानव असंगतियों और तज्जन्य परिवेश पर नाटक लिखकर एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सन् साठ के पश्चात् आधुनिक यांत्रिक विवशता, ऊब और मोहभंग को लेकर लिखे गए नाटकों की परम्परा काफी लम्बे समय तक चली। इसी पम्परा के चलते 'डॉ. विजयकांत धर दूबे' इस सन्दर्भ में प्रकाश डालते हुए कहते हैं - "इनमें मूल्य संक्रान्ति की सारी असंगतियाँ और विद्रूपताएँ, व्यक्ति-विघटन, लघुमानवतावाद, महानगरों की अपरिचित भीड़, सम्बन्धों की जटिलता, रहन-सहन की असुविधाएँ, मानव-मानसिकता के बदलाव, यांत्रिकता का प्रभाव आदि रेखांकित की गई हैं। आज स्वार्थवाद, अवसरवाद, दलवाद, भ्रष्टाचार, नगरीकरण आदि के प्रसार से सामान्य शिक्षित - अशिक्षित व्यक्ति का जो मानसिक विघटन हुआ है, तथा पारिवेशिक कटाव के कारण जो भयावह स्थितियाँ जन्मी हैं, उनका सम्यक् विश्लेषण इस काल के नाटकों में उपलब्ध है..... अत्याधुनिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जिन मूल्यों की आवश्यकता महसूस की जा रही है, उस तथ्य की सम्यक् अभिव्यक्ति इस धारा की नाट्य रचनाओं में दिखलाई देती है.... सन् साठ के बाद हुए विदेशी आक्रमणों (चीन एवं पाकिस्तान आक्रमण) ने कविता, कहानी और उपन्यास की तरह नाट्य-लेखन को भी नई अस्मिता दी।"[76]

इस दौरान विवेच्यकाल के काव्य-नाटकों या पद्य-नाटकों की चर्चा हमें थोड़ी अलग करनी पड़ेगी। डॉ. सिद्धनाथ कुमार और श्यामदेव भगत जैसे कुछ समीक्षकों के विचारानुसार पद्य-नाटक को प्रस्तुत करने का सबसे अच्छा माध्यम रेडियो है, क्योंकि रेडियो एक स्वतन्त्र विद्या है, जिसमें पद्य और गद्य दोनों शैलियों में लिखी गई रचनाएँ प्रसारित होती हैं , और इस पर कोई आधिकारिक टिप्पणी भी नहीं की जा सकती। इसका विकास साठ के बाद काफी हुआ। इस दिशा में हिन्दी के उच्चकोटि के लेखकों ने कई नाटक लिखे, जिनका उद्देश्य देशप्रेम, बदलती आस्थाओं एवम् मूल्यों, प्रजाभक्ति से लेकर महानगरीय बोध को सक्षमता पूर्वक अंकित किया है, जो कि आज के हिन्दी रेडियो नाटक के मानवमन की गहराईयों में बैठने की क्षमता रखते हैं। इन नाटककारों में विशेष हैं – विनोद रस्तोगी, लक्ष्मीनारायण लाल, सिद्धनाथ कुमार, नरेश मेहता, मणि मधुकर, विष्णु प्रभाकर, भैरवप्रसाद गुप्त, निर्मला, उग्रसेन, भारतभूषण अग्रवाल, सुरेन्द्र गुलाटी, सत्येन्द्र शरत् आदि।

आगे, हिन्दी नाटक का नवीनतम पड़ाव 'नुक्कड़ नाटक' है , क्योंकि इससे पहले नाटक सड़क पर कभी नहीं आया, इसलिए इसके नएपन और वैशिष्ट्य को स्वीकारा गया। इन नाटकों में सबसे बड़ी बात यह है कि यह बिना किसी रंगमंचीय ताम-झाम के खेला जा सकता है। यह आडम्बर मुक्त है, और इसमें आम-आदमी की जिन्दगी की दैनिक समस्याओं और परेशानियों का जीवन्त प्रस्तुतीकरण होता है – 'गाँव से शहर तक'; 'मशीन'; 'हत्यारे' आदि नुक्कड़ नाटकों की सैंकड़ों प्रस्तुतियाँ हो चुकी है। नुक्कड़ नाटकों की भाषा बेहद सम्प्रेषणीय है, जिसे देखते हुए 'शरद कोठारी' की इस बात को माना जा सकता है कि – "साहित्य के सभी रुपों में नाटक ही एक ऐसा रुप है, जो गली, सड़क पर बोली जाने वाली भाषा से उत्पन्न एक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है, जो जितना ही अपने मूल के निकट होगी, उतनी ही अधिक सम्पन्न होगी।"[77] साठ के बाद रचित नाटकों से गुजरते हुए ऐसा प्रतीत होता है, कि यहाँ कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से विविधता आई है। जिसके कारण आज का नाटक रंगमंच को मद्देनजर रखते हुए लिखा जा रहा है – "रंगमंच की एकमात्र

मौलिक और अपराजेय शक्ति है - द्विआयामी अभिनेता और अपने दर्शक को सीधे सम्बोधित कर उससे सार्थक संवाद कर सकने की सामर्थ्य। इसी बिन्दु से हमारे यहाँ नए, समान्तर, कमरवर्च, गरीब, सार्थक, मनोशारिरिक या तीसरे रंगमंच की तलाश की शुरुआत हुई।"[78]

आज हिन्दी के पास कई मूल्यवान नाटक मौजूद हैं, इनमें से कुछ नाटकों की चर्चा आगे हो चुकी है, जो कि समकालीन परिदृश्य को बहुत गहराई से देखने-सुनने की गवाही देते हैं। इन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि साठ के बाद हिन्दी नाटकों का संतोषजनक विकास हुआ है।

<u>स्वातन्त्र्योत्तर काल - नयी परम्पराएँ :</u>

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी नाटक के विकास में तेज़ी आ गई, इसके कई कारण हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं, पहला परतन्त्रता से मिली मुक्ति के कारण नयी चेतना जागृत होना स्वाभाविक ही था, और दूसरा, इस युग में हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में कई और संस्थाओं का भी अवतरण हुआ, तथा तीसरा कारण यह था, कि सरकार द्वारा 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' और 'संगीत और नाटक अकादमी' आदि की स्थापना से रंगमंच की उन्नति में विशेष मदद मिली।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में कुछ लेखकों ने तो अपनी वही पुरानी परम्पराओं का निर्वाह किया, परन्तु कुछ ऐसे भी नए लेखक आए, जिन्होंने नए शिल्प, नए विषय-वस्तु, नयी दृष्टि को अपनाते हुए नूतन परम्पराओं का प्रवर्त्तन किया। इन लेखकों द्वारा प्रवर्त्तन किए गए नवीन परम्पराओं को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। - "(१) सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित नाटक (२) व्यक्तिवादी चेतना से अनुप्राणित नाटक और (३) राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित।"[79] इनका संक्षिप्त विश्लेषण क्रमशः नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है :-

(1) सामाजिक - सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित नाटक :

इस वर्ग के नाटककारों ने जीवन को एक व्यापक दृष्टि से देखा तथा उसके विभिन्न पक्षों, रुपों व अंगों का सूक्ष्मता से चित्रण किया। जिससे व्यक्ति, समाज, परिवार और संस्कृति के सभी तथ्यों को उद्‌घाटित करना सरल हो गया। कुछ नाटककारों ने तो भारतीय गाँवों से लेकर अत्याधुनिक शहरी जीवन की समस्याओं का निरुपण भी कुशलतापूर्वक किया है। इस वर्ग के प्रमुख नाटककार और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है - 'विष्णु प्रभाकर' का डॉक्टर, युगे-युगे क्रान्ति, टूटते परिवेश (58); 'नरेश मेहता' का सुबह के घण्टे (56), खण्डित यात्राएँ (62); 'जगदीशचन्द्र माथुर' का कोणार्क (51), पहला राजा (69), दशरथनन्दन (74); 'डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल' का अन्धा-कुआँ, दर्पण, करफ्यु, रातरानी, एक सत्य हरिश्चन्द्र, अब्दुला दिवाना, मिस्टर अभिमन्यु आदि; 'विनोद रस्तोगी' का नए हाथ (58), बर्फ की मिनार ; 'डॉ. शंकर शेष' का फन्दी, खुजराहो के शिल्पी, बिन बाती के दीप, एक और द्रोणाचार्य आदि। "विशेषतः आधुनिक युग में उत्पन्न नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों के विघटन तथा सांस्कृतिक पतन की स्थिति से अवगत करवाने की दृष्टि से इस वर्ग के लेखकों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"[80]

(2) व्यक्तिवादी चेतना से अनुप्राणित नाटक :

इस चेतना से अनुप्रेरित नाटककारों ने व्यक्ति और समाज के आपसी क्लेश से उत्पन्न स्थितियों का वर्णन अलग-अलग कथ्यों के माध्यम से किया है। इन लेखकों की दृष्टि मुख्य रुप से व्यक्ति के अहंकार, व्यक्ति की स्वतन्त्रता, काम और स्वच्छन्द प्रेम आदि सम्बन्धों के चित्रण में विशेष तौर पर केन्द्रित रही, जिसके कारण परम्परागत मूल्यों और आदर्शों का विरोध होना स्वाभाविक हो गया। इस वर्ग में मुख्यतः सुरेन्द्र वर्मा, मुद्राराक्षस, रमेश बक्षी, मोहन राकेश जैसे नाटककारों की रचनाएँ आती हैं - 'सुरेन्द्र वर्मा' की द्रौपदी (1972), आठवॉं सर्ग, सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक (1975); 'मुद्राराक्षस' की तिलचट्टा (1973), योर्स फैथफुली (1974); 'रमेश बक्षी' की देवयानी का कहना है,

और तीसरा हाथी; 'मोहन राकेश' ने मात्र अपनी तीन रचनाओं द्वारा ही हिन्दी नाटक में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया - वे नाटक हैं - आषाढ़ का एक दिन (58), लहरों का राजहंस (63) और आधे-अधूरे (69) राकेश जी ने अपने नाट्य-रचना 'आधे-अधूरे' में परम्परागत मूल्यों और आधुनिक जीवन-दृष्टि के बीच हुए संघर्षों का चित्रण करते हुए दाम्पत्य तथा पारिवारिक जीवन के विघटन को भी चित्रित किया है। इनके नाटक शिल्प व रंगमंच की दृष्टि से काफी सफल सिद्ध हुए हैं।

(3) राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित नाटक :

"वैसे तो राजनीतिक विषयों को लेकर नाटक लिखने की परम्परा बहुत पुरानी रही है, किन्तु आठवें दशक में भारतीय राजनीति में जिस प्रकार तेजी से उतार-चढ़ाव आया, उसके प्रभाव से हिन्दी में ऐसे कई नाटक लिखे गए हैं, जिनमें समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तीखा व्यंग्य किया गया है।"[81] इनमें - विपिन अग्रवाल का ऊंची-नीची टाँग का जॉंघिया; गिरिराज किशोर का प्रजा ही रहने दो; दयाप्रकाश सिन्हा का इतिहास चक्र एवम् कथा एक कंस की; हमीदुल्ला का समय-सन्दर्भ; मणि मधुकर का रास-गन्धर्व; सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का बकरी; ज्ञानदेव अग्निहोत्री का शतुरमुर्ग आदि विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में एक ओर उन राजनीतिकों का भंडाफोड किया है, जो प्रजातन्त्र के नाम पर जनता का शोषण करते थे, और दूसरी ओर उन सत्ताधारी वर्ग के लोगों द्वारा किए गए भ्रष्टाचार, दुराचार, अनाचार का भी चित्रण स्पष्ट रुप से किया गया है।

इसके अलावा भी ऐसी कई रचनाएँ हुईं, जिनमें आधुनिक जीवन और समाज की समस्याओं का चित्रण किया गया, जैसे - धरती और आकाश (शंभूनाथ सिंह); निरंकुश (ब्रजमोहन शाह); अपनी धरती (रेवतीशरण शर्मा); बिना दिवार का घर (मन्नू भंडारी); हम लोग (अमृतराय) आदि।

इस तरह हम देखते हैं, कि हिन्दी नाट्य-साहित्य का विकास अनेक रुपों में हुआ है। इन सभी बातों को स्पष्टता प्रदान करते हुए 'डॉ.गुप्त' कहते हैं - "हिन्दी में नयी कविता और नयी कहानी की भाँति नया नाटक नहीं आया फिर भी यह कहा जा सकता है, कि अपने युग और समाज की नवीनतम स्थितियों, परिस्थितियों, सम्वेदनाओं और अनुभूतियों को व्यंजित करने की दृष्टि से हिन्दी का नाटक उसकी अन्य सभी विधाओं की अपेक्षा सर्वाधिक नवीन एवम् अधुनातन है.... बिना नूतनता की घोषणा और नएपन के आन्दोलन के भी किस प्रकार नवीनतम रहा जा सकता है, इसका उदाहरण आजका हिन्दी नाटक साहित्यहै।"[82]

उपन्यास :

'उपन्यास' गद्य-साहित्य का नव-विकसित रुप है, जिसमें संवाद, चरित्र-चित्रण, घटना और कथ्य आदि तत्वों के माध्यम से यथार्थ और कल्पना से मिली-जुली कहानी को आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया जाता है। संस्कृत के व्याकरण-सिद्ध शब्दों में 'उपन्यास' एवं 'न्यास' का पारिभाषिक अर्थ कुछ अलग ही माना गया है, मगर हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द कथा-साहित्य के रुप में प्रस्तुत हुआ है। जिस अर्थ में गुजराती में 'नवलकथा'; बँगला में 'उपन्यास', उर्दू में 'नावेल' तथा मराठी में 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग होता है, उसी तरह हिन्दी में उपन्यास शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ उपन्यास के जरिए उन सभी ग्रन्थों की ओर हमारी दृष्टि जाती है, जो कथा के सिद्धान्तों व नियमों का पूर्ण रुप से या अपूर्ण रुप से पालन करते हुए मानव की सतत् कुतूहल वृत्ति को पात्रों और घटनाओं के काल्पनिक संयोजन द्वारा शांत करते हैं।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य से हमारा तात्पर्य हिन्दी में साहित्यिक व्यक्तियों द्वारा लिखी गई औपन्यासिक कथाओं से है, और साथ-साथ उस आलोचनात्मक साहित्य से भी, जो इस उपन्यास के बारे में लिखा गया है।

'उपन्यास' का आरम्भ तो उस समय से हो गया था, जब एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के साथ अपनेपन की भावना मानते हुए विचारों का आदान प्रदान किया था। मानव-चेतना की उत्सुकता से इसकी वृत्ति का आरम्भ होता है, जीवन को जीवन के रुप में रखने का श्रेय मात्र उपन्यासकार को है। आज की पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार उपन्यास गद्य-शैली का एक प्रकार है, परन्तु वास्तविकता यह कहती है, कि उपन्यास गद्य तथा छन्द के बन्धनों से मुक्त एक 'कथनवृत्ति' है।

उपन्यास की पूर्व-परम्परा व विकास :-

"उपन्यास' की पूर्व परम्परा के चलते आधुनिक उपन्यास-साहित्य के रुप-विधान का विकास सर्वप्रथम यूरोप में माना जाता है, परन्तु कहने का यह मतलब नहीं कि प्राचीन भारत में उपन्यास जैसी किसी गद्य-विद्या का प्रचार ही नहीं रहा, बल्कि पंचतंत्र, बैताल पंचविशति, वासवदत्ता, बृहत्कथा-मंजरी, हितोपदेश, दशकुमार-चरित, कादम्बरी तथा कथा-सरित्सागर जैसे संस्कृत गद्य भी लिखे गए, जिनमें हमें औपन्यासिकता का विकास प्राप्त होता है। संस्कृत के कथा-साहित्य का प्रचार-प्रसार ईराक, अरब और यूरोप के प्रदेशों से होता हुआ सीधा यूनान तक पहुँच गया। इसकी अनेक कथाओं का अनुवाद यूरोप और मध्य एशिया की अलग-अलग भाषाओं में हुआ। इस अनुवाद के कारण कई पाश्चात्य विद्वान यूनान और यूरोप के रोमांटिक कथा-साहित्य का उद्भव मूलतः भारतीय कथा-साहित्य से मानने लगे।"[83]

इस युग के भारतीय कथा-साहित्य में प्रेम, साहस और वीरता जैसे तत्वों की इतनी प्रधानता रही कि आचार्य रुद्रट ने कथा-साहित्य के लक्षणों को निर्धारित करते समय इन्हें मुख्य लक्षण माना । यूरोप में रोमांच से भरे उपन्यासों का प्रचार सबसे पहले इटली से माना गया। पहले तो पाश्चात्य साहित्य शास्त्रियों ने भी उपन्यास को हेय दृष्टि से देखा, अमेरिकन शिक्षकों ने सर्वसाधारण के दिमाग में इस बात को बिठा दिया कि उपन्यास से अलग रचनाओं को पढना शिक्षापूर्ण एवं श्लाघनीय है , और कथाओं को पढना हानिकारक

है, परन्तु यह बड़ा ही विचित्र संजोग है, कि यूनानी तथा अंग्रेजी दोनों ही साहित्यों में उपन्यास का प्रारम्भ साहित्य की अन्यान्य विधाओं के चरमोत्कर्ष के पश्चात् ही हुआ।

"आगे चलकर फ्रांस में रोमानी और यथार्थवादी कथा-साहित्य की बहुत उन्नति हुई। दूसरी ओर, १७वीं-१८वीं शती में इंग्लैन्ड में अनेक महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई, जैसे - सर फिलिप सिडनी कृत आर्केटिया; जॉन बुनियन का पिलाग्रिम्स प्रोग्रेस; डेनियल डेफो का रॉबिन्सन क्रूसो; जोनाथन स्विफ्ट का गुलीवर्स ट्रावेल्स आदि।"[83A]

पाश्चात्य उपन्यासकारों में जर्मनी के गेटे; फ्रांस के बाल्जक, वाल्तेयर, जार्ज सेण्ड, अनातोले; इंग्लैण्ड के जार्ज इलियट, जेन आस्टिन, ब्राण्टी, थैकेर; रूस के गोगोल, तुर्गनेव, पुश्किन, टालस्टाय जैसे महान लेखकों ने उच्चकोटि के उपन्यासों की रचना की।

ऊपर बताए गए नामों से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि 18वीं शती के अंतिम चरण तक यूरोप के लगभग सभी क्षेत्रों में उपन्यास-साहित्य का विकास हो चुका था, किन्तु हिन्दी के क्षेत्र में इसका आविर्भाव १९वीं शती के अंत में हुआ। आधुनिक युग के भारतीय साहित्य में उपन्यासों का विकास अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से हुआ, यही कारण था, कि बंगला में उपन्यासों की रचना हिन्दी से पहले ही आरम्भ हो गई थी। हिन्दी उपन्यास साहित्य पर वंगला के कई उपन्यासकारों का गहरा प्रभाव पड़ा, उनमें से मुख्य हैं - शरतचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, बंकिमचन्द्र आदि।

"विकास-क्रम की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास के इतिहास को मुख्यतः दो युगों में विभक्त किया जा सकता है। पहला, प्रारम्भिक युग (१८७७-१९१८) और दूसरा प्रौढ़ युग (आलोच्य युग) (१९१८ से १९६०)।"[84]

'प्रारम्भिक युग' के उपन्यासों में 'मौलिक' और 'अनूदित' उपन्यासों को स्थान दिया

गया। 'मौलिक उपन्यासों' में सामाजिक, ऐतिहासिक और घटना-प्रधान जैसी शैलियों को लेकर उपन्यासों की रचना हुई। श्रद्धाराम फिल्लौरी, बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, किशोरीलाल गोस्वामी जैसे प्रभृति लेखकों ने सामाजिक उपन्यासों की रचना की।

"इस युग के सामाजिक उपन्यासों की लोकप्रियता एवं उसकी परम्परा की सशक्तता व दीर्घता का अनुमान लगाया जा सकता है, इनमें धार्मिक, नैतिक, चारित्रिक एवं शिक्षा सम्बन्धी विभिन्न तत्वों का प्रतिपादन समकालीन जीवन की पृष्ठभूमि के आधार पर किया गया है.... सामाजिक दृष्टि से इनमें नीति एवं चरित्र सम्बन्धी परम्परागत समस्याओं पर अधिक बल दिया गया है, सामयिक समस्याओं का विश्लेषण बहुत कम हुआ है.... कलात्मक दृष्टि से इनमें हिन्दी उपन्यास का बचपन ही दृष्टिगोचर होता है, भावी विकास की सम्भावनाओं के सूचक होते हुए भी ये अपने आप में अल्पविकसित ही हैं। कथानक में यथार्थ की अपेक्षा कल्पना अधिक है, चरित्र चित्रण में विकास का अभाव है, तथा शैली में परिष्कृति एवं प्रौढता बहुत कम मिलती है।"[85]

नवशिक्षित समाज की नई फैशनों पर भी इन्होंने कटाक्ष प्रस्तुत किया। इस युग के कुछ सामाजिक उपन्यासों में उल्लेखनीय हैं - राधाचरण गोस्वामी का 'विधवा विपत्ति'; कार्तिक प्रसाद खत्री का 'दीनानाथ'; बलदेवप्रसाद मिश्र का 'संसार';लज्जाराम मेहता का 'बिगड़े का सुधार'; रुद्रदत्त शर्मा का 'स्वर्ग में महासभा'; रामजीदास वैद्य का 'धोखे की टट्टी'; अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' ब्रजनन्दन सहाय का 'सौन्दर्योपासक'; रामनरेश त्रिपाठी का 'मारवाड़ी'; गंगाप्रसाद गुप्त का 'लक्ष्मीदेवी'; लोचनप्रसाद पांडेय का 'दो मित्र' आदि।

ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे पहले किशोरीलाल गोस्वामी का नाम आता है, जिनकी रचना 'हृदय हारिणी वा आदर्श रमणी' जो पहले 1860 ई. में 'हिन्दुस्तान' पत्रिका में एक धारावाहिक के रुप में प्रस्तुत हुई और 1904 ई. में पुस्तककार के रुप में प्रकाशित हुई। वैसे तो इनके अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों का सम्बन्ध मुस्लिम शासनकाल से है,

और कुछ रचनाओं में इन्होंने इतिहास को छोड़कर कल्पना का अधिक सहारा लिया, जिसके फलस्वरुप अनेक स्थानों पर ऐतिहासिक घटनाएँ भी विकृत हो गई हैं। जैसा कि शिवनारायण श्रीवास्तव ने स्पष्ट किया है – "इनके लिखने में गोस्वामी जी की दृष्टि प्रधानतः इस बात पर रही है कि एक ओर तो मुसलमानों की विलासिता, कपट-चातुरी, स्वार्थ लिप्सा, विश्वासघात, निर्दयता, हिन्दुओं पर अत्याचार एवं बर्बरता आदि का वर्णन किया जाए और दूसरी ओर हिन्दू राजाओं की वीरता, दृढ़ता, धर्म-प्रेम, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि उदात्त गुणों के चित्र एकत्र किए जाए।"[86]

गोस्वामी जी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में – ताराबाई; सुल्ताना रजिया बेगम; पन्नावाई; लवंगलता; कनक-कुसुम या मस्तानी; गुलबहार लखनऊ की कब्र; मल्लिकादेवी आदि उल्लेखनीय है। इस युग के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में जिनमें उपन्यासकारों ने पात्रों की सजीवता की अपेक्षा घटनाओं की रोचकता पर अधिक जोर दिया है, और कई ने तो वासना तथा कामुकता का चित्रण भी अनपेक्षित रुप में किया है। इनमें मुख्य हैं – गंगाप्रसाद गुप्त का नूरजहॉ, वीर पत्नी; जैनेन्द्र किशोर का गुलेनार; ब्रजनन्दन सहाय का लाल चीन; लाल जी सिंह का वीर बाला; मिश्रबन्धुओं का विक्रमादित्य, पुष्यमित्र; जयरामदास गुप्त का रंग में भंग, नवाबी परिस्तान; मथुराप्रसाद शर्मा का नूरजहाँ बेगम आदि महत्वपूर्ण हैं।

घटना-प्रधान उपन्यास या रोमांचक उपन्यासों के वर्ग में तिलिस्मी, जासूसी, ऐय्यारी आदि से सम्बन्धित उपन्यासों को स्थान दिया जाता है, जिनका उद्देश्य अद्भूत घटनाओं और क्रिया-कलापों द्वारा पाठक को चकित एवम् विस्मित करना होता है। ऐसे उपन्यासों में जादू, इन्द्रजाल, गडे हुए खजाने, अलौकिक कारनामों को प्राप्त करने आदि से सम्बन्धित वार्ताओं की भरमार होती है। इन रोमांचक उपन्यासों में – देवकीनन्दन खत्री का चन्द्रकांता, भूतनाथ, चन्द्रकान्ता संतति ; शंकरदयाल श्रीवास्तव का मदनमंजरी (छः भाग); गंगाप्रसाद गुप्त का कृष्णकान्ता; दादू विनायक का चन्द्रभाग; हरे कृष्ण जौहर का कुसुमलता (चार

भाग); हरिवंशलाल गुप्त का महर्षि; गुलाबदास का तिलिस्मी बुर्ज आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से सबसे अधिक लोकप्रियता देवकीनन्दन खत्री को प्राप्त हुई। "आचार्य शुक्ल ने तो यहाँ तक माना है, कि बहुत से लोगों ने केवल चन्द्रकान्ता या चन्द्रकान्ता संतति को पढ़ने के लिए ही हिन्दी भाषा सीखी। जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में सर्वाधिक योगदान गोपालराम गहमरी का है, जिन्होंने अपनी 'जासूस' पत्रिका के माध्यम से हिन्दी जगत् को शताधिक मौलिक एवं अनूदित उपन्यास प्रदान किए। इनके कुछ उपन्यासों की नामावली इस प्रकार है - अद्भुत लाश, गुप्तचर, बेकसूर की फाँसी, खूनी कौन है, बेगुनाह का खून, मायाविनी, भयंकर चोरी आदि।"[87] गहमरी जी ने कुछ सामाजिक उपन्यासों की भी रचना की, जैसे - दो बहन, डबल बीवी, देवरानी-जेठानी आदि, किन्तु इनकी ख्याति का मूल आधार इनका जासूसी साहित्य ही माना गया।

<u>अनूदित उपन्यास</u> : "इस युग में बँगला, मराठी, अंग्रेजी आदि के उपन्यासों के अनुवाद भी बहुत बडी संख्या में प्रकाशित हुए। गदाधर सिंह, राधाकृष्णदास, कार्तिकप्रसाद खत्री, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, रुपनारायण पांडेय प्रभृति ने बँगला से बंकिमचन्द्र रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, चण्डीचरण सेन, शरत् बाबू, चारुचन्द्र, रवीन्द्र आदि के उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किए। इसी प्रकार किशनलाल, लज्जाराम मेहता, रामकृष्ण वर्मा, गदाधर शर्मा ने गुजराती, मराठी, उर्दू एवं अंग्रेजी के विभिन्न उपन्यासों के अनुवाद प्रकाशित करवाए, जिनका हिन्दी उपन्यास-साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा।"[88]

<u>प्रौढ़ युग</u> :- प्रौढ़ युग का समय 1918 से 1960 तक माना गया है। इस नए युग का प्रवर्तन मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास 'सेवा-सदन' के प्रकाशनकाल से माना गया, और इसे 'प्रौढ़-युग' की संज्ञा दी गई। इस युग में अनेक नई परम्पराओं का सूत्रपात राष्ट्रीय परिस्थितियों एवं विदेशी साहित्य के प्रभाव से हुआ। हिन्दी उपन्यास-साहित्य के सन्दर्भ में 'आलोच्य-युग' को या 'प्रौढ-युग' को अलग संज्ञा भी प्रदान की गई, जिसे 'प्रेमचन्द-युग' भी कहा गया, और यह नाम बिना किसी विवाद के ग्रहण कर लिया गया। प्रेमचन्द द्वारा

रचित उपन्यास 'सेवा-सदन' का प्रकाशन प्रेमचन्द के जीवन की साहित्यिक घटना न थी, बल्कि हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में भी एक महत्वपूर्ण घटना थी। यह उपन्यास पूर्ववर्ती कथा-साहित्य का एक सफल प्रयास था, क्योंकि इससे पहले कथा-साहित्य अजीबोगरीब तरह की घटनाओं की चमत्कारिक सृष्टि थी, या फिर सामाजिक आन्दोलनों या आर्य समाज से प्रभावित समाज-सुधारों का प्रचार ही एकमात्र उसकी उपलब्धि रह गई थी। जीवन की सही अभिव्यक्ति का साधन वह नहीं बन पाई थी। गोपालराम गहमरी, हरिकृष्ण जौहर, देवकीनन्दन खत्री जैसे कथाकार पहली कोटि में स्थान रखते थे, तथा श्रीनिवास दास, गौरीदत्त, श्रद्धाराम फुल्लौरी, बालकृष्ण भट्ट, मेहता लज्जाराम शर्मा, ब्रजनन्दन सहाय आदि दूसरी कोटि के कथाकार माने गए हैं। प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकार भी सही भाषा की तलाश नहीं कर पाए और इस दौरान लिखे गए उनके सभी उपन्यास एक प्रतिभाशाली लेखक के बचकाने प्रयास जैसे लगते हैं। उपन्यास 'सेवा-सदन' (1918) ही उनकी पहली प्रौढ़ अथवा सशक्त कृति थी, जहाँ से उनके एक नए युग की भी शुरुआत हुई। डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार - "हिन्दी उपन्यास को प्रेमचन्द की देन अनेकमुखी है। प्रथमतः उन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य को मनोरंजन के स्तर से उठाकर जीवन के साथ सार्थक रुप से जोड़ने का काम किया। चारों ओर फैले हुए जीवन और अनेक सामयिक समस्याओं - पराधीनता, जमींदारों, पूंजीपतियों और सरकारी कर्मचारियों द्धारा किसानों का शोषण; निर्धनता, अशिक्षा, अंधविश्वास, दहेज की कुप्रथा, घर और समाज में नारी की स्थिति, वेश्याओं की जिन्दगी, वृद्ध-विवाह, विधवा-समस्या, साम्प्रदायिक वैमनस्य, अस्पृश्यता, मध्यम वर्ग की कुण्ठाओं आदि ने उन्हें उपन्यास लेखन के लिए प्रेरित किया था।"[89] दूसरी ओर, उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दशक में देवकीनन्दन खत्री जी ने कौतुहलोत्पादक नई-घटनाओं की रचना करके कथा में रोचकता उत्पन्न कर दी। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समाज में व्याप्त सभी वर्गों का चित्रण किया, परन्तु उनका सबसे प्रमुख वर्ग किसानों का रहा, उसके बाद मध्यवर्ग को उन्होंने अपने उपन्यास का विषय बनाया। उन्होंने अपने लेखन-कार्य को बड़ी सूक्ष्मता के साथ लक्ष्य किया है। सत्याग्रह आंदोलनों से निमित्त जो चित्र इनके उपन्यास में हमें दिखाई देते हैं, वे हैं - रंगभूमि, गबन, प्रेमाश्रम और कर्मभूमि।

"प्रगतिवाद या साम्यवाद के प्रति दुराग्रही लेखकों की दृष्टि उस खोखलेपन की ओर नहीं जा सकी, किन्तु प्रेमचन्द ने अपनी सूक्ष्म अवलोकन क्षमता से न केवल इसे लक्ष्य किया, अपितु सहानुभूति के साथ इसे अपने उपन्यासों में प्रस्तुत भी किया।"[90]
भाषा के सटीक, व्यंजनापूर्ण और सार्थक प्रयोग में वे अपने समकालीन लेखक मित्रों को ही नहीं बल्कि बाद के भी उपन्यासकारों को पीछे छोड़ जाते हैं। संक्षेप में, प्रेमचन्द ही एकमात्र ऐसे उपन्यासकार थे, जिन्होंने हिन्दी उपन्यास को अभिव्यक्ति का बेजोड़ माध्यम प्रदान किया।

प्रेमचन्द के समकालीन उपन्यासकारों में मुख्य हैं – आ. चतुरसेन शास्त्री, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', प्रतापनारायण श्रीवास्तव तथा विवेच्य काल में शिवपूजन सहाय, बेचन शर्मा उग्र, ऋषभचरण जैन, अनूपलाल मण्डल, जयशंकर प्रसाद। हिन्दी उपन्यास को प्रेमचन्द युग में नयी दिशा प्रदान करने का सफल प्रयास कुछ उपन्यासकारों ने किया, जिनमें – जैनेन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, राधिकारमण प्रसाद सिंह, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' आदि उल्लेखनीय हैं। निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि – "विवेच्य काल को हिन्दी उपन्यास का स्थापना काल कह सकते हैं। जहॉ प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को प्रथम बार साहित्य का दर्जा प्रदान किया और जैनेन्द्र ने उसे आधुनिक बनाया। वहाँ प्रसाद, कौशिक, उग्र, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, निराला आदि ने भी अपने-अपने ढंग से उसे समृद्धि प्रदान करके परवर्ती उपन्यासकारों का मार्गदर्शन किया।"[91] इसी विषय में डॉ. नगेन्द्र अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं – "प्रेमचन्द के उपरांत हिन्दी-उपन्यास कई मोडों से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है, जिन्हें स्थूल रुप से तीन दशकों में बॉटा जा सकता है – 1950 ई. तक के आसपास, 1950 से 1960 तक के उपन्यास और साठोत्तरी उपन्यास। पहला दशक मुख्यतः फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित है, दूसरा प्रयोगात्मक विशेषताओं से और तीसरा आधुनिकतावादी विचारधारा से।"[92] प्रवृत्ति की दृष्टि से सन् 1950 के बाद उपन्यासों

को अलग-अलग वर्गों में बाँटा गया, जिनमें मुख्य हैं - ग्रामांचल के उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, प्रयोगशील उपन्यास, सामाजिक चेतना के उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास और आधुनिकता-बोध के उपन्यास। इनका संक्षेप में विवरण इस प्रकार से है :-

ग्रामांचल के उपन्यास :

इस श्रेणी में आनेवाले उपन्यासों को आंचलिक कहकर उन्हें सीमित कर दिया। वैसे, 'आंचलिक' संज्ञा का आविष्कार रेणु के मैला आंचल के प्रकाशन के पूर्व नागार्जुन कृत 'बलचनमा' उपन्यास के द्वारा हो चुका था। इन उपन्यासों में किसी अंचल या प्रदेश-विशेष के ग्रामीण वातावरण तथा उनकी लोक-संस्कृति का चित्रण किया जाता है। आंचलिक उपन्यासों की परम्परा में डॉ. गणपतिचन्द्र 'गुप्त' अपने विचार प्रकट करते हुए बताते हैं कि - "इस दृष्टि से प्रेमचन्द के प्रेमाश्रम, रंगभूमि, गोदान आदि को तथा वृन्दावनलाल वर्मा के अनेक उपन्यासों को भी इस परम्परा में स्थान दिया जा सकता है, क्योंकि उनमें ग्रामीण वातावरण का चित्रण यथातथ्य रुप में हुआ है, किन्तु उनमें आँचलिकता को इतना अधिक महत्व नहीं दिया गया, जिससे अन्य तत्वों की तुलना में वह प्रमुख हो उठे। उनमें ग्रामीण जीवन तो अंकित है, किन्तु ग्रामीण संस्कृति, ग्रामीण गीतों एवं ग्रामीण भाषा का वैसा संश्लिष्ट प्रयोग नहीं मिलता, जो कि परवर्ती उपन्यासों की विशिष्टता का द्योतक है। इसीलिए विशुद्ध आँचलिक उपन्यासों की परम्परा नागार्जुन से ही शुरु होती है।"[93] इ स वर्ग के मुख्य उपन्यासों में 'फणीश्वरनाथ रेणु' का मैला आँचल और परती-परिकथा; 'नागार्जुन' का रतिनाथ की चाची, बलचनमा, बाबा बटेसरनाथ, दुखमोचन, नयी पौध, वरुण के बेटे; 'रांगेयराघव' का कब तक पुकारुँ; 'उदयशंकर भट्ट' का सागर, लहरें और मनुष्य; 'भैरवप्रसाद गुप्त' का सती मैया का चौरा आदि उल्लेखनीय हैं।

आँचलिक उपन्यासों की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय राही मासूम रज़ा (आधा गॉव); शिवप्रसाद सिंह (अलग-अलग वैतरणी); रामदरश मिश्र (जल टूटता हुआ, सूखता हुआ तालाब); हिमांशु श्रीवास्तव (रथ के पहिए);देवेन्द्र सत्यार्थी (कठपुतली); शैलेश मटियानी (हौलदार); वीरेन्द्र नारायण (अमराई की छाँह); श्याम संन्यासी (उत्थान); कैलाश

कात्यायन (लम्बे, ठिगने, बौने) आदि उपन्यासकारों को दिया जा सकता है, जिन्होंने अपने-अपने ढंग के प्रभावशाली ग्रामांचलीय उपन्यासों की रचना की।

इस तरह ग्रामांचलीय परम्परा के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों की कथावस्तु में शिक्षित जीवन तथा नागरिक सभ्यता को महत्व न देकर ग्रामीण जीवन को महत्व दिया, जिसके प्रति लोगों की दृष्टि उपेक्षित हुआ करती थी। इन उपन्यासों में ग्रामीण जीवन को शहरी दृष्टि से नहीं देखा गया, बल्कि उनकी चेतना को समझने का सफल प्रयास भी किया गया है। इस परम्परा का महत्व बताते हुए डॉ. 'गुप्त' कहते हैं कि – "भौगोलिक विशेषताओं, प्रादेशिक रंग, लोक-संस्कृति, ग्रामीण जीवन की समस्याओं, अशिक्षित वर्ग के अन्ध-विश्वासों, रुढियों एवं अभावों, स्वतन्त्र भारत के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों तथा जन-जागरण की नयी चेतना के सूक्ष्म चित्रण की दृष्टि से इस परम्परा का विशिष्ट महत्व है।"[94]

ग्रामांचल को महत्व देनेवाले अन्य उपन्यासकारों में – विवेकी राय (बबूल); सच्चिदानंद धूमकेतु (माटी का महक); राजेन्द्र अवस्थी (जंगल के फूल); उदयराजसिंह (अँधेरे के विरुद्ध) आदि उल्लेख्य हैं।

<u>मनोवैज्ञानिक उपन्यास</u> :-

मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी के अनेक उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में पात्रों की मानसिक प्रवृत्तियों-विशेष तौर पर दमित वासनाओं, कुण्ठाओं, यौन-वृत्तियों, ग्रन्थियों आदि का विश्लेषण प्रस्तुत किया, जिन्हें हम इस उपन्यास की परम्परा में स्थान दे सकते हैं। इस परम्परा के मुख्य उपन्यासकारों में – धर्मवीर भारती, जैनेन्द्रकुमार, देवराज, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय जैसे रचनाकारों के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाओं में – धर्मवीर भारती का (गुनाहों का देवता); जैनेन्द्रकुमार का (परख, सुनीता, त्याग-पत्र, कल्याणी, सुखदा, व्यतीत, विवर्त, जयवर्धन);

देवराज का (पथ की खोज, रोड़े और पत्थर, अजय की डायरी, मैं वे और आप); इलाचन्द्र जोशी का (लज्जा, पर्दे की रानी, संन्यासी, प्रेत और छाया, मुक्तिपंथ, जहाज का पंछी);अज्ञेय का (शेखर एक जीवनी, नन्दी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी) आदि मुख्य हैं। इन उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में यौन-समस्याओं तथा स्वच्छन्द प्रणय की अनुभूतियों को विशिष्ट रुप से प्रस्तुत करने के साथ-साथ फ्रायड, एडलर, युंग जैसे मनोविश्लेषण कर्त्ताओं के विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर काम, अहं, दंभ, आत्महीनता की ग्रन्थि आदि के विभिन्न रुपों का चित्रण अपने उपन्यासों में सूक्ष्मता और यथार्थ रुप में किया। परन्तु मनोविश्लेषण को अधिक महत्व दिए जाने के कारण इन उपन्यासों में समाज की व्याप्त समस्याओं तथा राष्ट्र की विशिष्ट परिस्थितियों की निरन्तर उपेक्षा ही हुई। जीवन-दर्शन की दृष्टि से ये उपन्यासकार व्यक्तिवादी तो कहे गए, किन्तु इन्होंने व्यक्ति के अस्वस्थ पक्ष का अधिक उद्घाटन किया है।

इनके अतिरिक्त उपन्यासकारों में - प्रभाकर माचवे (द्वाभा, साँचा); यादवचन्द्र जैन (पत्थर-पानी); अनन्तगोपाल शेवड़े (निशागीत, मृगजल); नरेश मेहता (डूबते मस्तूल); नरोत्तम प्रसाद नागर (दिन के तारे); गिरिधर गोपाल (चाँदनी के खंडहर) आदि इस परम्परा के अंतर्गत आते हैं।

<u>प्रयोगशील उपन्यास</u> :विगत दशाब्दी में कुछ लेखकों ने औपन्यासिक शिल्प और शैली की दृष्टि से नूतन प्रयोग भी किए। ये प्रयोग कविता और कहानियों में भी हुए। जिन्दगी पूर्णतः विश्लेषित न होकर चेतना-प्रवाह और स्वप्न-सृष्टि के साथ जुड़ गई। टाइम-शिफट, प्रतीक आदि के द्वारा उपन्यासों में नए शिल्प के दर्शन हुए। 'प्रभाकर माचवे' का सॉचा, द्वाभा; 'धर्मवीर भारती' का सूरज का सातवाँ घोड़ा; 'शिवप्रसाद रुद्र' का बहती गंगा; 'नरेश मेहता' का डूबते मस्तूल, धूमकेतु : एक श्रुति, यह पथबन्धु था; 'गिरिधर गोपाल' का चॉदनी रात के खंडहर; 'सर्वेश्वरदयाल सक्सेना' का सोया हुआ जल आदि इस परम्परा के उपन्यासकारों की रचनाऍ हैं। इन लेखकों ने अपने उपन्यासों के विषयक्षेत्र, शिल्प और शैली

में नूतनता लाने का प्रयास किया है।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान हिन्दी में और भी कई प्रतिभाशाली उपन्यासकारों का उदय हुआ, जिनमें - रमेश बक्षी (हम तिनके); योगेश गुप्त (छविनाथ); उषा प्रियम्वदा (पचपन खम्भे लाल दिवारें); निर्मल वर्मा (वे दिन); मन्नू भंडारी (एक इंच मुस्कान); सुरेन्द्रपाल (लोक लाज खोई); मार्कण्डेय (सेमल का फूल) प्रभृति के नाम उल्लेख्य हैं।

सामाजिक चेतना के उपन्यास :

सामाजिक चेतना के उपन्यासों की परम्परा में मुख्यतः आ. चतुरसेन शास्त्री, मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, लक्ष्मीनारायण लाल, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, ऋषभचरण जैन, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, उपेन्द्रनाथ अश्क, यज्ञदत्त शर्मा, अमृतलाल नागर, राजेन्द्र यादव, अनूपलाल मंडल आदि लेखक आते हैं। इनकी रचनाओं में - आ. चतुरसेन शास्त्री का (हृदय की प्यास, नीलमणि, रक्त की प्यास, दो किनारे, अपराजिता, खग्रास, धर्मराज आदि); मन्मथनाथ गुप्त का (बहता पानी, जय-यात्रा, अन्धेर नगरी, दो दुनियाँ, काजल की कोठारी आदि); भैरवप्रसाद गुप्त का (गंगा मैया, मशाल); अमृतराय का (नागफनी का देश, बीज, हाथी के दाँत); लक्ष्मीनारायण लाल का (मन वृन्दावन, धरती की आँखें, रुपा जीवा, काले फूल का पौधा); पांडेय बेचन शर्मा उग्र का (घंटा, दिल्ली का दलाल, शराबी, कढी में कोयला, फागुन के चार दिन); ऋषभचरण जैन का (वेश्यापुत्र, सत्याग्रह, दिल्ली का व्यभिचार, चम्पाकली); निराला का (अलका, अप्सरा, प्रभावती, निरुपमा आदि);अश्क का (सितारों का खेल, गरम राख, गिरती दिवारें, बड़ी-बड़ी आँखें, शहर में घूमता आईना, बाँधो न नाव इस ठाँव); यज्ञदत्त शर्मा का (दो पहलू, अंतिम चरण, इन्सान, बदलती राहें); अमृतलाल नागर का (सेठ बॉकेमल, महाकाल, शतरंज के मोहरे, बूँद और समुद्र, ये कोठेवालियाँ, सुहाग के नूपूर); राजेन्द्र यादव का (प्रेत बोलते हैं, उखड़े हुए लोग, शाह और मात, कुलटा, अनदेखे अनजान पुल); अनूप लाल मंडल का (समाज की बेदी पर, निर्वासित, गरीबी के वे दिन, किशोरी, अभिशाप आदि)। इन उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में

सामाजिक बुराइयों का चित्रण नग्नतापूर्वक किया है, और उच्चवर्ग के विलासिता एवम् जागीरदारों की काली करतूतों का अनावरण भी किया है, जिसमें इनकी यथार्थ की कठोरता के साथ-साथ आदर्शोन्मुखता भी परिलक्षित होती है। इन उपन्यासों में रचनाकारों को यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ भारत की विभिन्न राजनीतिक घटनाओं, राष्ट्रीय समस्याओं एवं योजनाओं का अंकन भी विशेष रुप से बताया है।

इनके अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र के उपन्यासकारों में 'मोहन राकेश' (अंधेरे बन्द कमरे, नीली बॉहों की रोशनी में, कॉंपता दरिया); 'कमलेश्वर' (एक सड़क सत्तावन गलियाँ(६१), डाक बंगला(६२), लौटे हुए मुसाफिर(६३), तीसरा आदमी (६४); 'यादवेन्द्र नाथ शर्मा 'चन्द्र' (पथहीन, दिया जला दिया बुझा); 'कमल जोशी' (बहता तिनका); 'प्रोफेसर मनमोहन सहगल' (जिन्दगी और जिन्दगी, जिन्दगी और आदमी, बदलती करवटें, कश्मीर की कसक आदि); 'गिरीश अस्थाना' (धूलभरे चेहरे); 'कृष्ण बलदेव वैद्य' (मेरा बचपन); 'जितेन्द्र' (ये घर ये लोग); 'ओमप्रकाश' (लकीरें); 'गोविन्दसिंह' (एक आदमी दो चेहरे); 'हर्षनाथ' (उडती धूल); 'करुणेन्द्र' (इन्सानियत, फिर भी जीवित है) आदि मुख्य हैं, इन कृतियों में आधुनिक समाज के सभी वर्गो तथा पक्षों का विश्लेषण यथार्थवादी दृष्टिकोण से हुआ है।

<u>ऐतिहासिक उपन्यास</u> :

हिन्दी उपन्यासों के विकास के दौर में इतिहास से सम्बन्धित एक नया दृष्टिकोण सामने आया। वैसे तो इन उपन्यासों की परम्परा का प्रवर्त्तन प्रारम्भिक युग में किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा हो चुका था, किन्तु इसका पूरी तरह विकास इस युग में ही हुआ। पिछले युग के लेखकों ने ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना ऐतिहासिक दृष्टि से कम की थी, बल्कि उत्सुकता, साहसिकता, उपदेश-शिक्षा, मनोरंजन, रोमांस आदि को अधिक प्रमुखता दी थी। नए ऐतिहासिक दृष्टिकोण को अपनाने वालों में - वृन्दावनलाल वर्मा का (गढ़कुंडार, झाँसी की रानी, विराटा की पद्मिनी, कचनार, मृगनयनी, अहिल्याबाई, टूटे कॉटे, भुवन-विक्रम

आदि); हजारीप्रसाद द्विवेदी (बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्रलेख, पुनर्नवा); आ. चतुरसेन शास्त्री (वैशाली की नगरवधु, रक्त की प्यास, मन्दिर की नर्तकी, वयं रक्षामः सह्याद्रि की चट्टानें आदि); राहुल सांकृत्यायन (विस्मृत यात्री, जय यौधेय, सिंह सेनापति, मधुर स्वप्न); रांगेय राघव का (मुर्दों का टीला, चीवर, अँधेरे के जुगनू, यशोधरा जीत गई, राह न रुकी, महायात्रा गाथा आदि); यशपाल का (दिव्या, अमिता) आदि मुख्य हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में अन्य परम्पराओं की तरह लेखकों की संख्या बहुत कम है, क्योंकि इस क्षेत्र में इतिहास और संस्कृति के विषय में गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है, मात्र कोरी कल्पना के बल पर इस क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। उपर्युक्त उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों तथा वातावरण का अंकन सूक्ष्मता से किया है। जिनमें भौतिकवादी जीवन-दृष्टि, वर्ग-संघर्ष की भावना, साम्यवादी सिद्धान्तों आदि की पुष्टि हो सके। इनमें इतिहास और दर्शन, तथ्य और कल्पना का समन्वय दृष्टिगत होता है। अगर हम साफ शब्दों में कहें तो इन लेखकों का मूल उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भारतीय संस्कृति के विकास पर रोशनी डालना है, जिसके परिणामस्वरुप उपन्यास में कहीं-कहीं हमें नीरसता का भी आभास मिलता है। फिर भी इस युग में जो भी ऐतिहासिक उपन्यास प्रस्तुत हुए वे उच्चकोटि के माने गए हैं - "प्रागैतिहासिक युग से लेकर विगत शताब्दी तक प्रायः सभी युगों का प्रतिनिधित्व हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा हो जाता है, जो महत्वपूर्ण उपलब्धि है।"[95]

अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकारों में - "गोविन्द वल्लभ पन्त' (अमिताभ, एक सूत्र, नूरजहॉ); 'वाल्मीकि त्रिपाठी' (प्रजाप्रिय प्रजेश, जहॉदारशाह, सत्ता और संघर्ष, विकलांग) आदि विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं।

<u>आधुनिकता बोध के उपन्यास</u> :

दो महायुद्धों, यंत्रीकरण तथा अस्तित्ववादी चिन्तन के कारण आधुनिकता की ऐसी

स्थिति उत्पन्न हुई, जिसे लेकर कई उपन्यासों की रचना हुई। इस परम्परा के उपन्यासों में – मोहन राकेश (अँधेरे बन्द कमरे); निर्मल वर्मा का (वे दिन, लाल टीन की छत); राजकमल चौधरी (मछली मरीं हुई); नरेश मेहता (यह पथ बन्धु था, नदी यशस्वी है); श्री लाल शुक्ल (राग दरबारी); मन्नू भंडारी (आपका बंटी); भीष्म साहनी (तमस); उषा प्रियम्वदा (पचपन खम्भे लाल दिवारें); रमेश बक्षी (अठारह सूरज के पौधे) आदि के नाम मुख्य रुप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी उपन्यास का आधुनिक स्वरुप :

सन् 1960 के बाद हिन्दी उपन्यास में अनेक नूतन प्रवृत्तियों का विकास हुआ, जिन्हें हम चार भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं – "(1) व्यक्ति-चेतना से अनुप्राणित (2) सामाजिक चेतना से अनुप्राणित (3) राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित उपन्यास (4) सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित। इस विषय में डॉ. गुप्त कहते हैं – वैसे तो प्रत्येक वर्ग में समाज, राजनीति, संस्कृति आदि का चित्रण न्यूनाधिक रुप में हुआ है, किन्तु यहाँ चेतना की प्रमुखता को ध्यान में रखकर ही यह वर्गीकरण किया है।"[96] उपर्युक्त सभी वर्गीकरण का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार से है :-

(1) व्यक्ति चेतना से अनुप्राणित उपन्यास :

व्यक्तिवादी चेतना से अनुप्रेरित उपन्यासों में खासतौर पर ऐसे उपन्यासकारों की कृतियॉ हैं, जैसे – "जिन्होंने व्यक्ति के अहं, दर्प एवं उसकी वासनाओं, कुंठाओं, आकांक्षाओं आदि का चित्रण परिवार, समाज एवं संस्कृति के परम्परागत आयामों की उपेक्षा करते हुए किया है, इनकी दृष्टि का केन्द्र मुख्यतः यौन-जीवन है, तथा इन्होंने उसी से सम्बन्धित विभिन्न स्थितियों एवं परिस्थितियों का अंकन इनके द्वारा हुआ है – उन्मुक्त भोगवाद एवं उच्छृंखल यौनाचार के मार्ग में परम्परागत नैतिक मूल्य, सामाजिक आदर्श एवं सांस्कृतिक आधार अवरोध उपस्थित करते हैं, अतः इन तत्वों का बहिष्कार किया गया है।"[97]

इस वर्ग के प्रमुख उपन्यासकारों और उनकी रचनाओं में 'निर्मल वर्मा' (वे दिन, लालटीन की छत); 'राजकमल चौधरी' (मछली मरी हुई); 'श्रीकांत वर्मा' (दूसरी बार); 'गिरीराज किशोर' (यात्राएँ); 'शरद देवड़ा' (टूटती इकाइयाँ); 'महेन्द्र भल्ला' (एक पति के नोट्स); 'प्रमोद सिन्हा' (उसका शहर); 'मणि मधुकर' (सफेद मेमने) आदि ने अपनी कृतियों द्वारा इस परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस क्षेत्र में कुछ महिला लेखिकाओं ने भी अपना स्थान बनाया और अपनी कृतियों में विदेशी समाज की प्रवृत्तियों का यथार्थ रुप से चित्रण किया। जैसे – 'उषा प्रियम्वदा' (रुकोगी नहीं राधिका, पचपन खम्भे लाल दिवारें) और 'कृष्णा सोबती'। इस प्रकार हम देखते हैं, कि इस वर्ग के लेखकों का दृष्टिकोण मात्र काम-जीवन तक ही सिमट कर रह गया।

(2) <u>सामाजिक चेतना से अनुप्राणित उपन्यास</u> :

इस वर्ग के उपन्यासकारों और उनकी रचनाओं में मुख्य हैं – डॉ. रामदरश मिश्र का जल टूटता हुआ; भीष्म साहनी का तमस; श्री लाल शुक्ल का राग दरबारी; जगदीश चन्द्र का धरती धन न अपना, कभी न छोड़े खेत, मुट्ठी भर काँकर आदि; विवेकी राय का लोकऋण; रमेशचन्द्र शाह का गोबर गणेश; गोविन्द मिश्र का लाल-पीली जमीं; अमृतराय का धुआँ; धर्मेन्द्र गुप्त का नगर-पुत्र हँसता है; जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का मुर्दाघर; महीश सिंह का यह भी नहीं; गिरिराज किशोर का इन्द्र सुनें; शैलेश मटियानी का छोटे-छोटे पक्षी; मनमोहन सहगल का जिन्दगी और जिन्दगी; देवेश ठाकुर का प्रिय शबनम; हेमराज निर्मम का बसन्त फिर आयेगा आदि उल्लेखनीय हैं।

इन उपन्यासों में लेखकों ने उन सभी स्थितियों का अंकन किया है, जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दिखाई देती हैं। इन रचनाओं के जरिए लेखक ने गॉव के विभिन्न वर्गों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों के साथ-साथ ग्राम पंचायतों की गुटबन्दी तथा चुनावी हथकण्डों और सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को व्यंग्यात्मक शैली में भी प्रस्तुत किया है। इस वर्ग के कुछ उपन्यासकारों ने बम्बई और कलकत्ता जैसे महानगरों के जीवन

को भी अपनी रचना का विषय बनाया, जैसे - "जिसमें इन बड़े नगरों में व्याप्त आर्थिक विषमता, भ्रष्टाचार, उच्चवर्गीय जीवन की कृत्रिमता, युवा पीढ़ी के भटकाव, नक्सलवादियों के असन्तोष और क्षोभ आदि का अंकन सूक्ष्मतापूर्वक हुआ है।"[98] इस क्षेत्र में डॉ. सुशील कुमार 'फुल्ल'का योगदान भी महत्वपूर्ण है, जिन्होंने अपनी रचनाओं में आधुनिक समाज के जीवन की स्थितियों, परिस्थितियों तथा विसंगतियों का उद्घाटन सफलतापूर्वक किया। उनके लेखन शैली में सर्वत्र साहित्यिकता एवं मनोवैज्ञानिकता का सामंजस्य दृष्टिगत होता है। उनकी रचनाओं में - मिट्टी की गन्ध, कहीं कुछ और, नागफांस, फूलों की छाया आदि मुख्य हैं।

सामाजिक चेतना से अनुप्रेरित होकर कुछ महिला लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं को प्रस्तुत कर इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया, उन्होंने आधुनिक युग के दाम्पत्य तथा पारिवारिक जीवन एवं समाज की विभिन्न परिस्थितियों का अंकन प्रस्तुत किया। इन लेखिकाओं के नाम व रचनाओं में प्रमुख हैं - डॉ. इन्दुबाली (बॉसुरिया बज उठी, सोये प्यार की अनुभूति); ममता कालिया (बेघर); मन्नू भंडारी (आपका बंटी); मंजुल भगत (अनारो); शशिप्रभा शास्त्री (सीढ़ियाँ) आदि। इनके अलावा मृदुला गर्ग, सिम्मी हर्षिता, सुनीता जैन, निरुपमा सेवती, सूर्यबाला, मालती जोशी आदि लेखिकाओं ने भी उच्चकोटि की रचनाएँ लिखीं, जिनमें नारी जीवन के सभी पक्षों का चित्रण प्रामाणिक रुप में किया गया है।

इस वर्ग के अन्य लेखकों में - दूसरा सत्र (देवराज); अक्षत् (शिवसागर मिश्र); छोटे-छोटे महायुद्ध (रमाकान्त); काली दिवार (केशव प्रसाद मिश्र);तीसरा आदमी (कमलेश्वर); उखड़े कदम (विपिन चतुर्वेदी); प्रतिबद्ध (सतीश जमाली); कुरु-कुरु स्वाहा (मनोहरश्याम जोशी); अपना मोर्चा (काशीनाथ सिंह); खुदा सही सलामत है (रवीन्द्र कालिया); क्लोज़ अप (सत्येन्द्र शरत्); मृगान्तक (गंगाप्रसाद विमल); लेकिन दरवाज़ा (पंकज विष्ट); अर्जुन जिन्दा है (मधुकर सिंह); वायदा माफ गवाह (अशोक अग्रवाल); टूटते हुए सूर्यविम्व (योगेश गुप्त) आदि ने उल्लिखित रचनाओं के माध्यम से सामाजिक

उपन्यासों की परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

(3) राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित उपन्यास :

इस वर्ग के लेखकों ने अपनी रचनाओं में आधुनिक प्रशासन, राजनीतिक नेताओं तथा प्रजातन्त्र शासन प्रणाली के अनेकों कलुषित पक्षों का पर्दाफाश प्रभावोत्पादक रुप में किया है। डॉ. शशिभूषण सिंहल ने अपनी रचना में सन् 1942 से 1957 तक के भारतीय राजनीतिक वातावरण का चित्रण करते हुए आधुनिक राजनीति की विषमताओं को भी प्रस्तुत किया है। इन लेखकों में मुख्य हैं - राही मासूम रज़ा (कटरा बी आरजू); शिवसागर मिश्र (जनमेजय बचा); शंकर पुणताम्बेकर (एक मंत्री स्वर्ग लोक में);बदीउज्जमा (छठातन्त्र, एक चूहे की मौत); डॉ. शशिभूषण सिंहल (जानी अनजानी राहें, अपने पराए); हृदयेश (सफेद घोडा);शान्ताकुमार (अपने कैदी, अधूरे सफर का पूरी कहानी, लाजो); डॉ. मनमोहन सहगल (बदलती करवटें) आदि उल्लेखनीय हैं।

(4) सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित उपन्यास :

साँस्कृतिक चेतना से अनुप्रेरित उपन्यासों की संख्या वैसे तो अधिक नहीं है, फिर भी इसका महत्व कम नहीं है, क्योंकि इसमें विषय-वस्तु की व्यापकता, विचारों की नवीनता तथा शैली के औदात्य की दृष्टि से ये रचनाएँ इस युग की गौरवपूर्ण उपलब्धियों के रुप में स्वीकार की गई। इसका महत्व इस दृष्टि से भी है कि - “इन उपन्यासकारों ने पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के बाह्य आकर्षण, भौतिकवादी जीवन-दर्शन एवं तथाकथित आधुनिक बोध की उद्घोषणाओं के प्रभाव से मुक्त रहकर अपने युग और समाज को एक स्वस्थ, सन्तुलित एवं उदात्त सन्देश देने का प्रयास किया है।”[99] इस वर्ग के उपन्यासकारों और उनकी रचनाओं में मुख्य हैं - नरेन्द्र कोहली का दीक्षा, अवसर, संघर्ष की ओर, युद्ध; आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनामदास का पोथा; वीरेन्द्रकुमार जैन का अनुत्तर योगी आदि।

इस तरह हम देखते हैं, कि वर्तमान युग का हिन्दी उपन्यास अनेक दिशाओं में आगे बढ रहा है। जिसमें जीवन के विभिन्न पक्षों और रुपों का चित्रण गम्भीरतापूर्वक प्रस्तुत किया जा रहा है, फिर भी हम इससे संतुष्ट नहीं हो सकते, क्योंकि अभी भी इस आधुनिक समाज के कितने ही ऐसे भ्रष्ट और दूषित पक्ष अभी शेष हैं, जिनका चित्रण कर पाना एक कठिन कार्य लग रहा है। हम ऐसी ही उम्मीद उपन्यासकारों से करते हैं, कि वे भविष्य में अपनी दृष्टि और चेतना का विस्तार कर जीवन के उन अधूरे पक्षों का चित्रण सम्वेदनापूर्वक प्रस्तुत कर सकें।

एकांकी :

हिन्दी एकांकी : परम्परा और विकास : साधारणतया एक ही अंक में समाप्त होने वाले नाटक की संज्ञा 'एकांकी' है – "एकांकी का शाब्दिक अर्थ है – 'एक अंकवाला'। यह नाटक के समान ही अभिनय से सम्बन्धित साहित्य की एक विद्या है, जिसमें किसी घटना या विषय को एक अंक में प्रस्तुत किया जाता है।"[100] आधुनिक युग में एकांकी का प्रचलन जिस रुप में हो रहा है, उसका विकास पाश्चात्य देशों में हुआ है। यह सत्य है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में भी एकांकी या एकांकी से मिलते-जुलते रुपकों का प्रचार रहा है। हिन्दी साहित्य में जिस तरह महाकाव्य, खंडकाव्य आदि का सम्बन्ध संस्कृत साहित्य से जोड़ते हैं, उसी प्रकार हिन्दी एकांकी का सम्बन्ध भी संस्कृत के उपरुपकों से जोड़ा जाता है, पर संस्कृत नाट्य साहित्य में 'एकांकी' को कोई अलग संज्ञा प्राप्त नहीं होती।

"नाटक के विभिन्न भेदों में से व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी आदि में एक ही अंक होता है, अतः इन्हें प्राचीन ढंग के एकांकी कह सकते हैं।"[101] संस्कृत तथा प्राकृत में 'एकांकी' के हमें अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जैसे – सौगन्थि हरण (विश्वनाथ); पार्थ पराक्रम (व्यायोग) (प्रहलादवन देव); धनंजय-विजय (कंचन पण्डित); भीम विक्रम (मोक्षादित्य); किरातार्जुनीय (वत्सराज); निर्भय भीम (रामचन्द्र) आदि। इसी प्रकार 'भाण' के भी हमें कई उदाहरण मिलते हैं – जैसे – वामन भट्ट का श्रृंगार-भूषण;शंकर कृत

श्रद्धातिलक; वत्सराज कृत कार्पूरचरित्र; रामचन्द्र दीक्षित कृत श्रृंगार-तिलक आदि।

"पश्चिमी ढंग से एकांकी लिखने पर ही एकांकी कहला सकता है, वास्तव में हमारे दृष्टिकोण की एकांगिता है, अन्यथा हमारा 'भाण' एकांकी की कला का चरम विकसित रुप है।"[102]

"हिन्दी 'एकांकी' का विकास मुख्य रुप से तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है - (क) उदयकाल - सन् 1865 से 1915 (ख)विकासकाल - सन् 1916 से 1930 (ग) उत्कर्ष काल - 1930 से अब तक।"[103]

<u>उदयकाल :</u> उदयकाल से हमारा तात्पर्य प्राचीन परम्परा के एकांकियों से है। सन् 1965 से ही भारतेन्दुकालीन साहित्य में हिन्दी एकांकी का स्वरुप दिखाई देता है। इस युग के हिन्दी नाटकों पर संस्कृत नाटकों का प्रभाव अधिक दिखाई दे रहा था। भारतेन्दु जी एक सोद्देश्य नाटककार थे, और अपने समाज तथा राष्ट्र के प्रति पूरी तरह से जागरुक थे, वह नाटक की किसी नई विधा को जन्म देने में इतने सचेष्ट न थे, जितने कि नाटकों के द्वारा भारत की दुर्दशा की कथा कहने में। अतः इस युग को एकांकी का उदयकाल कहना ही सही है, क्योंकि इस युग के लघुनाटक ही आधुनिक हिन्दी एकांकी का प्रारम्भिक रुप है। इस युग में अनेक लघु नाटकों की रचना हुई। जिनमें - बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्ण दास, किशोरीलाल गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र आदि मुख्य नाटककार हैं। इस युग में 'एकांकी' संज्ञा का प्रचार पूरी तरह से न हो सका, लघु नाटकों को 'नाटिका' या 'रुपक' जैसे शब्दों से वयवहृत किया गया। इनमें हमें संस्कृत नाट्यशास्त्र के प्रभाव के साथ-साथ पाश्चात्य नाट्यशास्त्र की झलक भी दिखाई देती है।

<u>विकासकाल</u> : हिन्दी एकांकी का विकासकाल पाश्चात्य परम्परा के विकास का इतिहास है। इस युग के नाटककारों ने पाश्चात्य सभ्यता से अधिक प्रभावित होकर मौलिक

रचनाएँ कम दीं, और अनुवाद कार्य अधिक किया। अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद से हिन्दी नाटकों में पाश्चात्य परम्पराओं का आगमन हुआ, और यहीं से हिन्दी एकांकी के नव-शिल्प तथा नव-रुप का आगमन भी हुआ। उन्नीसवीं शती के अंतिम समय तक पाश्चात्य एकांकी का विकास एक स्वतंत्र साहित्यिक रुप में भी हुआ। पाश्चात्य एकांकी के इस अभिनव रुप ने हिन्दी नाटककारों को बहुत प्रभावित किया और इस विकासकाल के सर्वश्री कामताप्रसाद गुरु, बेचन शर्मा उग्र, रामनरेश त्रिपाठी, जी. पी. श्रीवास्तव, सुदर्शन, बदरीनाथ भट्ट जैसे हिन्दी के नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाया। परन्तु फिर भी 'एकांकी' संज्ञा अभी तक सर्वमान्य तथा सर्वस्वीकृत रुप ग्रहण न कर पाई। अतः 1916 से 1930 तक हिन्दी-एकांकी विकास की अवस्था में रहा।

उत्कर्षकाल : इस काल का हिन्दी एकांकी निश्चय ही नाट्य-शिल्प की उच्चतम शिखर को छूने की दिशा की ओर अग्रसर है। हिन्दी में एकांकी लेखन का प्रारंभ भारतेन्दु युग से होता है, किन्तु उसके कुछ तत्व हमारे पूर्ववर्ती साहित्य में भी प्राप्त होते हैं, जैसे - "तुलसी के परशुराम-लक्ष्मण संवाद, कैकेयी-मंथरा संवाद, अंगद-रावण संवाद, केशव के बाणासुर संवाद, रावण-अंगद संवाद अथवा नरोत्तम के सुदामा-चरित्र के पति-पत्नी संवाद में स्वतंत्र रुप में एकांकी की-सी नाटकीयता, तीव्रता, मार्मिकता एवं व्यंग्यात्मकता मिलती है..... सन् 1850 के अनन्तर गीतनाट्यों के रुप में लिखे गए इन्द्रसभा, बन्दरसभा, मुछन्दर सभा आदि को भी डॉ. रामचरण महेन्द्र ने एकांकी का प्रारंभिक रुप माना है।"[104] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हिन्दी में प्राचीन रुप के गद्य-बद्ध एकांकियों का आरम्भ हुआ। भारतेन्दु ने प्राचीन संस्कृत नाट्य-साहित्य से प्रेरणा लेते हुए एकांकियों के विभिन्न रुपों के विकास हेतु सफल प्रयास किया। उनकी रचनाओं में - प्रेमयोगिनी, धनंजय-विजय, पाखण्ड-विडम्ब, विषस्य विषमौषधम्, अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति आदि में उन्होंने प्राचीन ढंग के एकांकियों के लक्षणों का निर्वाह किया - "अपने इन एकांकियों में जहाँ उनका एक लक्ष्य कला का विकास करना है, वहाँ दूसरी ओर जनता का ध्यान तत्कालीन समस्याओं की ओर आकर्षित करना भी है, उनके प्रहसनों में विभिन्न रुढियों, रीति-रिवाजों, सामाजिक एवं

राष्ट्रीय बुराइयों पर तीखा व्यंग्य किया गया है।"[105] 'डॉ. महेन्द्र' जो कि हिन्दी एकांकी साहित्य के अधिकारी विद्वान के रुप में जाने जाते हैं, भारतेन्दु के इन एकांकियों पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं - "किन्तु जिस बात से हम विशेष प्रभावित होते हैं वह उनकी प्रतिभा है। उन पर नए ढंग से बँगला नाटकों तथा पारसी रंगमंच का भी प्रभाव था। पारसी रंगमंच की दोहा-शेड़वाली पद्धति की छाप उनके एकांकियों पर है। अँग्रेजी का प्रभाव बंग-साहित्य के मध्यम से उनकी एकांकी-कला पर पड़ा है"[106]

द्विवेदी युग में हिन्दी एकांकी के स्वरुप पर पाश्चात्य प्रभाव तथा अँग्रेजी के सीधे अनुकरण से नवीनता आ गई। कहने का मतलब यह है कि भारतेन्दु युग में जो एकांकी संस्कृत परिपाटी पर विरचित हुआ, वह इस युग में एक नए रुप से विकसित होने लगा, पुरानी संस्कृत पद्धति घटने लगी और नए तरीके के एकांकी नाटकों की रचना होनी प्रारंभ हो गई। इस युग के नाटककारों का मुख्य उद्देश्य समाज-सुधार तथा राष्ट्र की उन्नति रहा। इस युग के मुख्य एकांकियों में - सियारामशरण गुप्त का 'कृष्णा'; मंगलप्रसाद विश्वकर्मा का 'शेरसिंह'; रामसिंह वर्मा के दो प्रहसन - 'रेशमी रुमाल' और 'क्रिसमिस'; शिवरामदास गुप्त का 'नाक में दम'; रुपनारायण पांडेय का 'मूर्ख-मंडली'; उग्र का 'चार बेचारे' आदि उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक एकांकी :

जो एकांकी पाश्चात्य शैली और परम्परा के अनुसार लिखे गए, उन्हें हम यहाँ 'आधुनिक एकांकी' की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। जैसा कि हमने पहले बताया कि इसका विकास सन् 1930 ई. के अनन्तर हुआ था। श्री जयशंकर प्रसाद की रचना 'एक घूँट' को ही सभी विद्वानों ने आधुनिक एकांकी की पहली रचना मान ली। परन्तु इसे लेकर विद्वानों में काफी विवाद चला। इसी सन्दर्भ में डॉ. नगेन्द्र का मानना है कि- "सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद से 'एक घूँट' से हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है, इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टैकनिक़ का

सन् 1938 से 1940 ई. तक के दो वर्षों के इस समय को हम संक्रान्तिकाल कह सकते हैं। 1938 ई. के हंसके 'एकांकी-विशेषांक' में एकांकी के सम्बन्ध में एक विवाद खड़ा कर दिया, जिसकी शुरुआत श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के एक लेख से हुई - "श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की बातें हिन्दी पाठकों और लेखकों के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थीं। रचनाएँ जब तक कुछ नहीं या कुछ ही होती हैं, तब तक उनके बारे में विशेष विचार-विमर्श की आवश्यकता नहीं समझी जाती, किन्तु जब वे अपना एक निश्चित वर्ग एवं प्रकार बनाने की ओर उन्मुख होती हैं, तब उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार होने लगता है। सन् 1938 ई. के आस-पास हिन्दी एकांकी साहित्य इसी स्थिति में आ गया और जब यह विवाद समाप्त हो गया, तब एकांकी-कला, उसके स्वरुप, उसके स्थान, उसके विषय आदि के सम्बन्ध में जैसे सब कुछ निश्चित हो गया।"[111] अब हिन्दी एकांकी साहित्य बड़ी कलात्मकता और तीव्रता के साथ आगे बढ़ रहा है।

सन् 1940 ई. से 1947 ई. के बीच का समय हमारे भारतवर्ष के लिए चोटों, कराहों और तड़पनों का युग था, क्योंकि उसी समय द्वितीय विश्वयुद्ध की लपटों की अग्नि ने सबकी आत्माओं को तप्त दग्ध कर दिया था। हिन्दी साहित्य की प्रत्येक विधा इस प्रभाव से अछूती न रही, तो एकांकी विधा भी इससे दूर न जा सकी। प्रो. सत्येन्द्र के अनुसार - "बिल्कुल सामयिक और समस्याओं, प्रश्नों और आवश्यकताओं ने एकांकीकारों को आकर्षित कर लिया है, और वह इस स्थूलता से उन्हें प्रकट भी करने लगा है।"[112] सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, डॉ. रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भुवनेश्वर प्रसाद, गणेश प्रसाद द्विवेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी, चन्द्रकिशोर जैन, प्रभाकर माचवे, इन्द्रमोहन राकेश, विष्णु प्रभाकर आदि अनेक युग के मुख्य एकांकीकार हैं।

सन् 1947 ई. के बाद अर्थात् स्वातन्त्र्योत्तर एकांकी साहित्य पर जिसका प्रभाव बडी गहराई से पड़ा वह था रेडियो। इससे पहले हिन्दी रेडियो माता के लिए एकांकी-विधा एक सौतेली बेटी के समान थी, परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् - "रेडियो के अधिकारियों

की दृष्टि इस अपेक्षित पुत्री के प्राप्य पर भी गई और अब रेडियो-एकांकी इस युग की माँग है।"[113]

"स्वातन्त्र्योत्तर एकांकी की साधारण एकांकियों में प्रसाद युगीन और पूर्व स्वातन्त्र्यकालीन एकांकियों के तत्व किसी न किसी रुप में विद्यमान परिलक्षित होते हैं। आज के अधिकांश एकांकी रेडियो पर ही प्रसारित होने के लिए लिखे जाते हैं..... रेडियो एकांकियों का अपना एक पृथक प्रकार बन चला है, और उसका भी वर्गीकरण डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपने निबंध 'ध्वनि नाटक की शैली' में किया है, जैसे नाटक, रुपक, संगीत-रुपक, प्रहसन आदि।'[114] इनके अतिरिक्त डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' चिरंजीत, उदयशंकर भट्ट, प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त', अमृतलाल नागर, अनिलकुमार आदि लेखकों के एकांकियों में रेडियो एकांकी की कला अपने प्रौढ़तम एवं मनोहर रुप में निखरकर सामने आई है।

आज हिन्दी का एकांकी-साहित्य विकास की अपनी विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता हुआ अत्यन्त प्रौढ़ और समृद्ध रुप में हमारे समक्ष आ रहा है। आधुनिक युग के एकांकियों का मूल स्वर यथातथ्यवाद से जुड़ा हुआ है, क्योंकि इसमें समाज का स्वाभाविक यथार्थवादी रुप विवेच्य युग की रचनाओं में चित्रित किया गया है। युगीन एकांकीकारों ने प्राकृतिक यथार्थवाद का चित्रण किया, जैसा समाज को देखा, उसी तरह उसे वर्णित कर दिया। इन एकांकीकारों का मत था कि - "युगों की रुढ़ियों तथा बन्धनों में बँधे रहने के कारण कृत्रिम भावुकता और मार्मिकता में पड़कर तथा केवल सौन्दर्य पूजा में तल्लीन रहकर मानव-प्रकृति, समाज तथा संस्कारों का वास्तविक रुप सभ्यता के आवरण में आवृत्त हो गया है, यही वास्तविक रुप अब उनके यथार्थवादी साहित्य में अनुप्राणित हो रहा है..... संस्कृति की व्याख्या, इतिहास और राष्ट्रीयता के प्रति आस्था, दैनिक जीवन की समस्याओं का समाधान आज की एकांकियों में वर्णित हो रहा है।"[115]

आधुनिक एकांकीकारों ने प्राचीन संस्कृति तथा आदर्शों के पुनर्निर्माण का एक सफल प्रयास भी किया, जैसे – "इन एकांकियों का मूल आधार प्राचीन कथाओं के आदर्श नायकों और घटनाओं का समीचीन पुनर्मूल्यांकन है.... आधुनिक एकांकी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्हें वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रदर्शित किया गया है।"[116] हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य का प्रभाव भारतेन्दु काल से ही शुरु हो गया था। एकांकी भी पाश्चात्य प्रभाव का ही प्रतिफलन है। इस सन्दर्भ में डॉ. नगेन्द्र का मत है कि – "एकांकी पश्चिम की देन है। उनके अनुसार यह सब देखते हुए तो हमें सत्य की रक्षा के लिए थोड़ी देर अपने देश-प्रेम को दबाकर स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी का एकांकी उसकी कहानी की तरह पश्चिम से ही आया है।"[117] रंगमंच की दृष्टि से भी आधुनिक एकांकियों पर पाश्चात्य का प्रभाव दिखाई पड़ता है, आधुनिक हिन्दी एकांकियों में जो आलिंगन, चुम्बन तथा मृत्यु आदि के साथ दुखांत के जो उदाहरण प्राप्त होते हैं, वे पाश्चात्य प्रभाव के ही प्रतिफलन हैं। हमारे देश में अंग्रेजों के आगमन से ही भारतीयों का सम्पर्क उनके साथ हुआ, दो अलग-अलग सभ्यताएँ तथा संस्कृतियॉ आपस में टकराई, एक-दूसरे से सान्निध्य प्राप्त हुआ, और धीरे-धीरे पाश्चात्य समाज की सभ्यता और संस्कृति की छाप हमारी सभ्यता पर पड़ने लगी। आज हम केवल जन्म मात्र से ही भारतीय हैं, बोलचाल, खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन आदि सभी से हम पाश्चात्यों को भी पीछे छोड़ देते हैं।

"पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में साहित्य की अनेक विधाओं का विकास हुआ। नाटक (एकांकी) विशेष रुप से समुन्नत हुआ। जागरुक और सूक्ष्मदर्शी हिन्दी एकांकीकारों का इस ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही था।"[118] इसी सम्बन्ध में श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने भी लिखा है कि – "आधुनिक काल में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार के साथ पाश्चात्य प्रभाव का जो प्रभंजन आया, वही साहित्यिक रुप के विकास को अवरुद्ध करने वाली शक्तियों को समाप्त करके उसकी प्रगति के लिए उचित वातावरण उत्पन्न कर सका।"[119] इस प्रकार पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से हमारे आधुनिक युग के एकांकीकारों के नज़रिए में बहुत बदलाव आ गया। आधुनिक एकांकी ने

निर्विवाद रुप से व्यक्ति चेतना को अधिक महत्व दिया है। व्यक्ति-चेतना से तात्पर्य है - व्यक्ति के सन्दर्भ में समाज को देखना।

आधुनिक एकांकी पढते समय जहॉं तक मेरा व्यक्तिगत मत है, सामान्य रुप से ध्यान केवल व्यक्ति पर ही जाता है, क्योंकि आज का व्यक्ति टूटा-टूटा सा तथा खोया-खोया सा स्वयं को अजनबी-सा बनाता हुआ दिखाई देता है। उसकी इस स्थिति का कारण सामाजिक विघटन कहना ही उचित है। आज़ादी के बाद हिन्दी एकांकी का वर्तमान रुप जो आज हमारे सामने उपस्थित है उसकी अपनी कई विधाएँ हैं - जैसे - बनते हुए नए सम्बन्ध, परिवर्तित परिवेश, बिखरते हुए पारिवारिक सम्बन्ध, नारी का आर्थिक संघर्ष, मानव के अस्मिता का प्रश्न, नारी के बदलते विचार, प्रेम तथा यौन से जुड़ी जटिल समस्याएँ, मनुष्य का टूटता व्यक्तित्व आदि।

'डॉ. गंगाप्रसाद विमल' ने समकालीन कहानी की रचना विधान पर प्रकाश डालते हुए इन समकालीन एकांकी विधा के संदर्भ में जो कुछ भी लिखा है, वह उतना ही प्रासंगिक और सीधा है, जितना कि कथा-साहित्य पर। वे कहते हैं कि - "मूल्यांकन का विरोध नहीं है, अपितु मूल्यांकन की अनिवार्यता के मूलबिन्दु के प्रति ही अस्वीकार है तथा इसका प्रमुख कारण यह है कि अरुहानी किसी तरह के (और अन्य विधाएँ भी) मूल्यों की रक्षा करती हुई या आग्रह रखती हुई नहीं चलती है। उसके लिए पुराने मूल्यों का टूटना भी कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है , क्योंकि वह किसी भी तरह की शास्त्रीय या रोमांटिक धारणा का पक्ष ग्रहण नहीं करती, क्योंकि वह किसी भी तरह के मूल्यों का नए मूल्यों की सहमति भी नहीं देती, अपितु समकालीन कथा-धारा की ये अनेक रचनाएँ अत्यन्त निर्ममता से उस मूल्य-बोध और मूल्य-स्थापना को निरन्तर तोड़ती हैं, जिसके प्रति एक पूरी पीढ़ी की आत्मीयता थी।"[120]

नए एकांकी साहित्य को हम इनके अलावा विषयगत प्रवृत्तियों के आधार पर अलग-अलग वर्गो में विभाजित कर सकते हैं - जैसे (1) ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं पौराणिक

वर्ग (2) देशभक्ति से सम्बन्धित वर्ग (3) नैतिक तथा सामाजिक वर्ग (4) यथार्थवादी वर्ग आदि। इन सभी वर्गों का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है :-

<u>ऐतिहासिक, साँस्कृतिक एवं पौराणिक वर्ग</u> :-

इसमें ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों को लेकर एकांकियों की रचना की गई। इस वर्ग के एकांकीकारों ने आदर्शवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए अपनी रचनाओं में लोकमंगल तथा नैतिक अभ्युत्थान को प्रस्तुत किया, तथा कुछ ने तो भारतीय संस्कृति का भी सजीव रुप से चित्रण किया। कुछ एकांकीकारों ने ऐतिहासिक विषयों के आधार पर अपनी रचनाओं में इतिहास और कल्पना के समन्वय रुप को भी दर्शाया है। इन एकांकीकारों और उनकी रचनाओं में मुख्य हैं - शम्भूदयाल सक्सेना (सीताहरण, पंचवटी, सोने की मूर्ति); डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल (महाकाव्य का मंदिर, उर्वशी); डॉ. सरनामसिंह 'अरुण' (सत्य का दंड, परित्याग); रामवृक्ष बेनीपुरी (अम्बपाली, संघमित्रा, कुणाल);गोविन्द शर्मा (महारथी कर्ण, लक्ष्मण परित्याग);गणेशदत्त गौड 'इन्द्र' (लीला चमत्कार, देवलोक, भक्तराज नन्द); डॉ. कृष्णदत्त भारद्धाज (प्रहलाद, मिथिला, वृन्दा); डॉ.महेन्द्र भटनागर (कवि भोज, जीमूत वाहन, गणनायक विक्रम); सत्यदेव शर्मा (उर्मिला, नर्तकी, मीराबाई); देवेन्द्रनाथ शर्मा (परिजात मंजरी); कुंवरचन्द्र प्रकाश सिंह (महाकवि चन्द्र, भूषण, तुलसीदास, भारतेन्दु शताब्दी); डॉ. दुर्गादत्त मेनन (मिलिन्द, पीली ऑधी); प्रशान्त (सती सुभद्रा, खोए हुए भगवान, जय सोमनाथ); हंसकुमार तिवारी (कच-देवयानी, मेघदूत); मातादीन भगोरिया (चाणक्य); विपुला देवी (लोकेश्वर शनि) आदि हैं।

<u>देशभक्ति से सम्बन्धित वर्ग</u> : इस वर्ग में एकाँकीकारों ने स्वतन्त्रता संग्राम के विभिन्न नेताओं तथा उनके आदर्श विचारों को अपनी रचनाओं में चित्रित किया, तथा राष्ट्रीयता की भावना को प्रज्जवलित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। कई एकांकीकारों ने सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गाँधी आदि से सम्बन्धित विषयों को अपनी रचना का आधार वनाया, तथा ऐसे तत्वों को भी प्रस्तुत किया, जो हमारे राष्ट्र के सूचक हैं। इनमें

मुख्य हैं – हरिकृष्ण प्रेमी; रामचन्द्र तिवारी; विष्णु प्रभाकर; सुधीन्द्र; विराज (तिरंगा झंडा, सीमांत का संतरी, ध्वज-पोत); सत्येन्द्र; शिवकुमार ओझा (रक्तदान, सोहागदान, सर्वस्वदान); हरिशंकर शर्मा; देवदत्त अटल (मुक्तिदाता गाँधी, स्वर्ग में गाँधी, सत्याग्रह या दुराग्रह); जानकीशरण वर्मा; प्रेमराज शर्मा 'विद्रोही' (बापू के प्यारे, महान् भंगी) प्रभृति के विभिन्न एकांकियों को स्थान दिया जा सकता है। इनके अलावा भी कई एकांकीकारों ने इसी प्रकार राष्ट्रीय और देशभक्ति से जुड़े हुए विषयों को प्रस्तुत किया है।

<u>नैतिक तथा सामाजिक वर्ग</u> :

इस वर्ग के एकांकीकारों ने आधुनिक समाज के सभी वर्गों, परिस्थितियों आदि का चित्रण आलोचनात्मक तथा कटाक्ष रुप में किया है, इसलिए यह हिन्दी एकांकी का सबसे अधिक व्यापक, प्रौढ़ और सशक्त वर्ग माना गया है। एकांकीकारों ने आधुनिक समाज का विवेचन बड़ी ही सूक्ष्मता तथा व्यंग्यात्मकता से प्रस्तुत किया है, और साथ ही इनकी एकांकियों में विचार-शैली, आदर्श-यथार्थ, शिक्षा-मनोरंजन आदि का भी सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ता है। इनकी मूल प्रवृत्ति को हम सामान्य रुप से आदर्शोन्मुख-यथार्थवादी कह सकते हैं। इनमें – विनोद रस्तोगी (पुरुष का पाप, पत्नी परित्याग); प्रो. अर्जुन चौबे कश्यप (नौकरी, शून्यवाद, बरगद का पेड़, दोहरा व्यक्तित्व); प्रेमनारायण टंडन (अधूरा लेख, प्रेरणा, रोगी के बच्चे); जयनाथ नलिन (बड़े आदमी, देश की मिट्टी, संवेदना सदन, नवाबी सनक); जनार्दन मुक्तिदूत (गोद, उषा मुसकाई, मृग-तृष्णा, नींद के बादल); आरसी प्रसाद सिंह (टूटे हुए दिल, कलंक-मोचन, समझौता) आदि मुख्य रुप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त देवीलाल सामर, प्रो. गोविंदलाल माथुर, प्रो. इन्दु शेखर, मधुकर खेर, मोहनसिंह सेंगर, लक्ष्मीनारायण टंडन, रामप्रसाद सिंह 'आनंद', हीरादेवी चतुर्वेदी, रत्नकुमारी, देवीदयाल 'मस्त', एस.पी. खत्री आदि के नाम भी महत्वपूर्ण है, जिन्होंने आधुनिक समाज की समस्याओं से सम्बन्धित विषयों के आधार पर उत्कृष्ट एकांकी प्रस्तुत की।

<u>यथार्थवादी वर्ग</u> : इस वर्ग के एकांकीकारों ने यथार्थवाद को अपनाते हुए

अपनी रचनाओं में राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि समस्याओं का विश्लेषण किया। साथ ही, आधुनिक जीवन की विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों तथा असंगतियों का उद्घाटन नूतन बौद्धिक एवं यथार्थवादी दृष्टि से भी किया। कुछ एकांकीकारों ने तो अपनी एकांकियों में समाजवादी दृष्टिकोण से पूँजीवादी सभ्यता के कई दोषों तथा वर्ग-वैषम्य का स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत किया है, और वर्तमान समाज की व्यवस्था पर कटाक्ष भी प्रस्तुत किया है। इन एकांकियों में मुख्य हैं - रावी (पूर्व और पश्चिम, रेखा मनुष्य भी है); डॉ. धर्मवीर भारती (नीली झील, नदी प्यासी थी); सत्येन्द्र शरत् (प्रतिशोध, वह रात, शोहदा); अनन्तकुमार 'पाषाण' (बर्फ की चट्टानें, पतझर के फूल आदि); अमृतराय (राह चलते, निशाने बाज आदि); श्री राम शर्मा 'राम' (धर्म-अधर्म, नाते-रिश्ते, टुकडे आदि); श्रीकृष्णचन्द्र (पराजय के बाद, हमारा मदरसा); प्रो. प्रकाशचन्द्र गुप्त (विजय किसकी, आसाम का एक चित्र, होटल) आदि उल्लेखनीय हैं।

इनके अलावा भी कुछ ऐसे एकांकीकारों के नाम सामने आए, जिन्होंने सामाजिक क्रान्ति की भावना से अनुप्रेरित एकांकियों की रचना के साथ-साथ विभिन्न विषयों से भी सम्बन्धित एकांकी प्रस्तुत की। उनमें शिवदानसिंह चौहान, विट्ठलदास कोठारी, डॉ. वीरेन्द्र मेहन्दीरत्ता, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, डॉ, लक्ष्मणसिंह, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि मुख्य रुप से उल्लेख्य हैं।

<u>प्रमुख एकांकीकार व उनकी रचनाएँ</u> :

"मौलिक एकांकियों की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय सर्वप्रथम डॉ. रामकुमार वर्मा को है। उनका 'बादल की मृत्यु' सन् १९३० में प्रकाशित हुआ, जिसे डॉ. सत्येन्द्र ने 'एक घूँट' के अनन्तर दूसरा स्थान दिया है।"[121] वर्मा जी की अन्य रचनाओं में - चारुमित्रा, विभूति, कौमूदी-महोत्सव, ऋतुराज, रजत-रश्मि, काम-कंदला, इन्द्रधनुष, रिमझिम आदि। वर्मा जी के साथ-साथ ही एकांकी के क्षेत्र में आगे आने वाले लेखकों में मुख्य हैं - उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का (पापी, अधिकार का रक्षक, स्वर्ग की झलक, चिलमन, चुम्बक, सूखी डाली,

बतसिया, अंजो दीदी आदि); श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का (अशोक वन, एक दिन, कावेरी में कमल, स्वर्ग में विप्लव, प्रलय के पंख पर, भगवान मनु, नारी के रंग, बलहीन); सेठ गोविन्ददास (वुद्ध के सच्चे सनेही कौन?, तेगबहादुर की भविष्यवाणी, मानव-मन, ईद और होली, कृषि-यज्ञ, सच्चा काँग्रेसी कौन? आदि); उदय शंकर भट्ट का (दस हजार, वर-निर्वाचन, नकली और असली, विष की पुड़िया, गिरती दिवारें, मनु और मानव, धूम-शिखा, नया नाटक आदि); जगदीशचन्द्र माथुर का (मेरी बाँसुरी, कलिंग-विजय, भोर का तारा, कबूतरखाना, मकड़ी का जाला, ओ मेरे सपने, बन्दी आदि); भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र का (श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना, पतिता, आदमखोर, रोशनी और आग, इतिहास का केंचुल, सींकों की गाड़ी आदि), गणेश प्रसाद द्विवेदी का (सोहाग बिंदी, शर्मा जी, कामरेड, परीक्षा, रिहर्सल, गोष्ठी, रपट, धरती-माता आदि); भगवतीचरण वर्मा का (दो कलाकार, मैं और केवल मैं, सबसे बड़ा आदमी, द्रौपदी आदि); चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का (मनुष्य की कीमत, तांगेवाला, भेड़िए, नव-प्रभात आदि); प्रो. सद्‌गुरुशरण अवस्थी का (सुदामा, शम्बूक, कैकेयी, महाभिनिष्क्रमण आदि); आ.चतुरसेन शास्त्री का (पन्नाधाम, रुठी रानी, राखी आदि);प्रो. धर्म प्रकाश आनन्द का (दीनू, मिस्टर मौलिक,सोशलिस्ट); यज्ञदत्त शर्मा का (प्रतिशोध, दहेज, दया आदि); डॉ. सत्येन्द्र का (कुणाल, बलिदान, वसंत आदि); सज्जाद जहीर का (बिमार) आदि उच्चकोटि के लेखक माने गए हैं।

उपर्युक्त बताए गए नाम उन एकांकीकारों के हैं, जिनकी कला का विकास सन् 1945 से भी पहले हो चुका था। इन एकांकीकारों ने पाश्चात्य शैली से प्रभावित होकर कई नए प्रयोग किए। अंग्रेजी के एकांकी-साहित्य का प्रभाव इन लेखकों पर विशेष रुप से दिखाई पड़ता है। इनके सम्बन्ध में डॉ. महेन्द्र का कहना है - "इनमें से अनेक ने पाश्चात्य शैलियों पर, विशेषतः अँग्रेजी के अनुकरण पर, नवीन एकांकी प्रस्तुत किए हैं। कुछ प्राचीनशैली पर भी लिखते रहे। साधारणतः ऊपरी आकार-प्रकार, संवाद, दृश्य-विभाजन, रंग-संकेत और भाषा आदि पर थोड़ा प्रभाव इब्सन तथा उसके बाद के अंग्रेजी नाट्यकारों का पड़ा पर भीतरी भावलोक और विचारधारा भारतीय परम्परा में है। द्विजेन्द्र तथा प्रसाद

की भावमयी अतिरंजित कृत्रिमता और कल्पना-प्रधान शैली का अन्त हो गया। उसके स्थान पर नित्यप्रति को मध्यवर्गीय समस्याएँ, दैनिक जीवन में प्रयुक्त भाषा, संवाद, सामाजिक जीवन का कार्य-व्यापार और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों की स्वाभाविकता पर ध्यान दिया गया।"[122]

वस्तुतः इस युग का एकांकी-साहित्य दूसरी विधाओं की ही तरह जीवन और समाज के अधिक समीप रहा और प्रगति में बराबर योग देता रहा।

इस प्रकार हमने देखा कि आज का एकांकी साहित्य पर्याप्त सम्पन्न दशा में है, विचारों, विषय-वस्तु एवं शैली की दृष्टि से यह अत्यन्त गंभीर, व्यापक तथा वैविध्यपूर्ण है। डॉ. गुप्त के मतानुसार - "इनके माध्यम से जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं इतिहास-पुराण की नयी व्याख्या प्रस्तुत हुई है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक जीवन की प्रायः सभी पक्षों एवं उनकी विभिन्न समस्याओं का अंकन इसमें हुआ है। एकांकी के प्रायः सभी प्रचलित भेदोपभेदों, यथा-ध्वनि-रुपक, संगीत-रुपक, रेडियो, प्रहसन या झलकी, मोनोलॉग या स्वगत नाट्य आदि का भी विकास इसमें दृष्टिगोचर होता है। अतः हिन्दी एकांकी साहित्य की प्रगति को संतोषजनक बताया जा सकता है।"[123]

<u>औपन्यासिक प्रस्तुति और बदलाव</u> :

आधुनिक कथा-साहित्य में युगानुरुप एक अपेक्षित बदलाव सर्वत्र दृष्टिगत होता है। सामाजिक, सॉस्कृतिक राजनैतिक तथा आर्थिक मूल्यों के तहत मनुष्यों की वैचारिक दृष्टि जगह-जगह परिवर्तित हुई है। सामाजिक परिवेश में एकल और विभाजित इकाइयों में बिखरे हुए परिवार पुनः संयुक्त परिवार की ओर जहाँ अग्रसर हुए हैं, वहाँ मूल रुप से कथाकार का केन्द्रस्थ नजरिया सामने आता है। कथाकार चूंकि पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी की संधि बेला को जीता हुआ अपनी सोच को स्थापित करता है और समाज या परिवार के सामने जब किसी निश्चित मूल्य को स्थापित करना चाहता है, तब उसका व्यक्तिवादी आग्रह उसे नैतिक

या आदर्श मूल्यों के व्यामोह में प्राचीन और विगत सभ्यता के आकर्षण में बाँध देता है। हालांकि सातवें दशक के बाद यह लेखकीय प्रतिबद्धता कुछ शिथिल अवश्य हुई, किन्तु अधिकांश कथाकारों ने इंकलाबी स्वरों में बगावत करके कोई जोखिम नहीं उठानी चाही है।

विगत पृष्ठों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि एकल और विभाजित परिवार यहाँ की सम्पूर्ण सांस्कृतिक और विरासती प्रतिबद्धता को चुनौती नहीं दे सकती। न तो ब्राह्मण का बेटा शिखा काटकर यज्ञोपवित उतार फेंकने की मानसिकता में है, और न ही अभिजात कुलीन परिवारों के लड़के किसी हलके टटके श्रमजीवी कार्य से जुड़कर अपनी परम्परित परिभाषा को परिवर्तित करना चाहते हैं।

वैसे तो 21वीं शताब्दी का प्रारम्भ हो चुका है। वैज्ञानिक उपलब्धियों नें मनुष्य को अधिक सुविधा भोगी और आरामपरस्त बना दिया है। निरन्तर क्रियाशील अनुसन्धानों ने सम्भावनाओं के अनंतद्धार खटखटाए हैं, सम्पर्क के सूत्र अकल्पनीय स्थिति तक साकार हुए हैं। मीड़िया और प्रसारण के सूत्र बहुआयामी भी हुए हैं, और सर्वसुलभ भी। कम्प्यूटर की अनन्त क्षमताओं ने विज्ञान के उच्चस्थ श्रृंगों पर विजय स्थापित की है, किन्तु इन समस्त सुविधाओं और सम्भावनाओं के सामान्तर भारतीय परिवेश में निगूढ़ संस्कृति और सभ्यता ने आमूल चूल परिवर्तन की ओर कोई संकेत नहीं दिया। नारी और पुरुष वर्ग के कार्य आज भी परम्परित मूल्यों पर विभाजित हैं। नारी आज भी रसोई की रानी और पुरुष घर का मालिक कहलाने की ललक से जुड़े हुए हैं। पुरुष वर्ग का वर्चस्व अब भी परिवार के व्यवस्थापन पर हावी है। परिवर्तन हो रहा है, मूल्य बदल रहे हैं, नारियाँ अब असूर्यस्पर्शी नहीं रहीं, अट्टालिकाओं के अंधकक्षों में बादियों, रानियों, लौंडियों या वैश्याओं की तरह अब उन्हें बाध्य नहीं किया जा सकता। घर की देहर को लाँघकर दफ्तरों की कुर्सियों पर नारियाँ आरुढ है। धनोपार्जन करती हुई आज नारियॉ भले ही स्वावलम्बन की जिन्दगी जीने का ऐलान करती हों किन्तु फिर भी उनका नारीत्व खुलकर बगावत करने की ना तो क्षमता रखता है और ना ही इसके लिए तैयार है। भारतीय परम्परिक समाज के मानक मूल्य नारी की जिस संज्ञा को वर्षो से पारिभाषित किए हुए हैं, उनमें बहुत बड़ा परिवर्तन नज़र नहीं

आता। परिवर्तित मूल्यों में संपूर्ण समाज को दो मुख्य वर्गों में विभाजित कर रखा है - ग्राम्य परिवेश और नगरीय परिवेश।

साठोत्तरी हिन्दी कथा-साहित्य जो एक बडा बदलाव दृष्टिगत होता है वह है कथानक की प्रस्तुति में। डॉ. रामप्रसाद ने इस संदर्भ में यह स्पष्ट किया है कि - "साठोत्तरी कथा-साहित्य का विवेच्य विषय पात्रों की अहमियत न होकर कथानक की विशिष्टता अधिक रही है।"[124]

कहीं-कहीं तो कथानक विहीन उपन्यासों की सृष्टि हुई है जहाँ मनोविकारी क्षणांशों को अलग-अलग घटनाक्रमों के माध्यम से व्यक्त किया गया है, तथा जहाँ इन ईकाइयों का अन्तर्सम्बन्ध भी स्थापित नहीं हो पाता, इस प्रकार के उपन्यासों में वीणा सिन्हा का अंतर्यात्रा; आचार्य शशिकर का सोनाकुई; धीरु बहन पटेल का बाँस का अँकुर; आशापूर्णा देवी का चार दिवारी के बाहर आदि कुछ ऐसे उपन्यास हैं, जहाँ कथाकृति मात्र कथानक पर ही केन्द्रित नहीं रहती। पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथाकृतियों के आधार पर रचे गए जिन उपन्यासों में प्रासंगिकता के प्रसंग प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं, उनमें कमलेश बक्षी का जीनी; विश्वनाथ मुखोपाध्याय का बाबू वृत्तांत; कैलाशनाथ पांडेय का निष्ठा की मौत; आ. शशिकर का पुल कमजोर है; कमरेश बसु का मुक्त हाथों की खोज में; आबेद श्रुति का खोया हुआ चेहरा; विवेकी राय का अमंगलहारी; अभिमन्यु अनंत का आसमान अपना आँगन; कुसुमाग्रज का वैष्णव; सुधा मूर्ति का महाश्वेता; शुभाँगी भड़भड़े का कृतार्थ; मनमोहन मिश्र का फूला; दिनेश नंदिनी डालमिया का मरजीवा; कमलकुमार का हेमबर्गर; प्रसाद गणपत का देवयानी; दानेश्वर शाम का कमलकांड; शशिभूषण सिंहल का साधना; सुभाष नरुला का एक सत्य अंततः; कमलदास का अमृत विभाती; यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का अपराजिता; से.रा. यात्री का आत्मदाह; रामप्रकाश शर्मा का मृत्युंजय भीष्म; मुद्राराक्षस का हम सब मंसा राम;हरिस्वरुप गौड का बाजी ओर; कांति द्विवेदी का तपस्विनी; अरविन्द तिवारी का दिया तले अँधेरा; विवेकी राय का नमामि ग्रामम्; विश्वम्भर शर्मा का मुट्ठी में बंद सवेरा आदि अनेक ऐसे

उल्लेखनीय उपन्यास हैं, जिनमें आज के युग की विभिषिकाओं एवं असंतुलित मानसिकताओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

कहीं-कहीं तो साठोत्तरी उपन्यासकारों ने प्रायोगिक स्तर पर कुछ मौलिक और कुछ अछूते प्रयोग भी अपने उपन्यासों में किए हैं। जिनमें विशेषकर नरेन्द्र धीर का अतृप्त; कुसुमांजलि शर्मा का खारे पानी की प्यास; डॉ. कश्मीरीलाल का कीर्तिकथा; राजकुमार निजात का अचानक; नरेन्द्रकुमार शर्मा का त्रिकोण; प्रमोद भार्गव का प्यास भर पानी; से. रा. यात्री का अंतहीन आदि उपन्यास सीधे और प्रत्यक्ष रुप से सामयिक सन्दर्भों को रेखांकित करते हैं।

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी के उपन्यास इस सन्दर्भ में सीधी और प्रत्यक्ष कथाश्रुतियों के माध्यम से अधिक प्रासंगिक तो नहीं लगती, किन्तु उपन्यास की अन्तर्कथाओं में और भाषिक सम्वादों में यह प्रासंगिकता अधिक मुखर होकर सामने आई है। डॉ. त्रिपाठी के औपन्यासिक कथ्यों में आधुनिक परिवेश की सपाट बयानी के साथ या प्रत्यक्ष कथ्य के माध्यम से प्रासंगिक नहीं बनाया गया, बल्कि परोक्ष रुप से उनकी ऐतिहासिक उपन्यास सन्दर्भ और प्रसंगानुसार प्रासंगिक तथ्यों को उद्‌घाटित करते रहते हैं। इस संदर्भ में अतिरिक्त विश्लेषण इस प्रबंध में अन्यत्र प्रस्तुत किया जा रहा है।

X-X-X-X-X-X-X-X

-: सन्दर्भ सूची :-

1. हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास -'डॉ. प्रतापनारायण टंडन' -पृष्ठ 187
2. वही - वही - पृष्ठ-187
3. वही - वही - पृष्ठ-192
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास - डॉ. श्रीकृष्णलाल - पृष्ठ - 302
5. हिन्दी साहित्य : पिछला दशक - डॉ. प्रतापनारायण टंडन - पृष्ठ - 73
6. हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास - डॉ. प्रतापनारायण टंडन - पृष्ठ-198
7. वही - वही - पृष्ठ-198
8. वही - वही - पृष्ठ-223-224
9. वही - वही - पृष्ठ-231
10. वही - वही - पृष्ठ-237
11. वही - वही - पृष्ठ-184
12. हिन्दी कथा-साहित्य -श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी - पृष्ठ - 49
13. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास - डॉ. श्रीकृष्ण लाल - पृष्ठ - 321
14. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-द्वितीय खंड - डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त - पृष्ठ - 451-452
15. वही - वही - पृष्ठ-452
16. वही - वही - पृष्ठ-452
17. वही - वही - पृष्ठ-457
18. वही - वही - पृष्ठ-457-458
19. वही - वही - पृष्ठ-459
20. वही - वही - पृष्ठ-460
21. हिन्दी नई कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन - डॉ. महेश दिवाकर - पृष्ठ -56
22. वही - वही - पृष्ठ-460
23. अस्तित्ववाद और नई कहानी - डॉ. लालचन्द्र गुप्त मंगल - पृष्ठ- 09
24. स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य - श्री सीताराम शर्मा - पृष्ठ-17
25. वही - वही - पृष्ठ-205
26. हिन्दी कहानी : उद्‌भव और विकास - डॉ. सुरेश सिन्हा - पृष्ठ-180
27. हिन्दी कहानी का विकास - डॉ. देवेश ठाकुर - पृष्ठ-50
28. अस्तित्ववाद और नई कहानी - डॉ. लालचन्द्रगुप्त मंगल - पृष्ठ-119
29. नई कहानी की भूमिका - शुरु की बात... - कमलेश्वर - पृष्ठ-05
30. वही - वही - पृष्ठ-36
31. वही - वही - पृष्ठ-51
32. हिन्दी कहानी : उद्‌भव और विकास - डॉ. सुरेश सिन्हा - पृष्ठ-555
33. बिन्दुहीन आलोचना (नई कहानियॉं, जून 1976)-मोहन राकेश - पृष्ठ-76

34. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-द्वितीय खंड - डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त-पृष्ठ-465-466

35. वही - वही - पृष्ठ-466

36. वही - वही - पृष्ठ-467

37. वही - वही - पृष्ठ-467

38. वही - वही - पृष्ठ-371-372

39. वही - वही - पृष्ठ-372

40. वही - वही - पृष्ठ-372

41. वही - वही - पृष्ठ-373-374

42. वही - वही - पृष्ठ-374-375

43. वही - वही - पृष्ठ-375

44. वही - वही - पृष्ठ-376

45. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक़ इतिहास-द्वितीय खंड
डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त- पृष्ठ-376

46. साठोत्तरी हिन्दी नाटक - साठोत्तरी हिन्दी नाट्यभाषा :
परम्परा और उपलब्धि - विजयकांत धर दूबे - पृष्ठ-193

47. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास
द्वितीय खंड-डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त-पृष्ठ -377

48. साठोत्तरी हिन्दी नाटक - विजयकांत धर दुबे - पृष्ठ-193

49. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-द्वितीय खंड
डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त-पृष्ठ-380

50. साठोत्तरी हिन्दी नाटक - विजयकांत धर दुबे - पृष्ठ-193-194

51. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. आलोक कुमार रस्तोगी श्रीशरण - पृष्ठ-78

52. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास - द्वितीय खंड
डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त - पृष्ठ-380

53. साठोत्तरी हिन्दी नाटक - विजयकांत धर दुबे - पृष्ठ - 194

54. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-द्वितीय खंड
डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त - पृष्ठ - 380-381

55. वही - वही - पृष्ठ-381

56. वही - वही - पृष्ठ-382

57. वही - वही - पृष्ठ-383

58. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास - द्वितीय खंड
डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त - पृष्ठ-383

59. वही - वही - पृष्ठ-384

60. हिन्दी नाटक का विकास - डॉ. वेदपाल खन्ना - पृष्ठ-191

61. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास - द्वितीय खंड - डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त - पृष्ठ-385

62. साठोत्तरी हिन्दी नाटक – विजयकांत धरदूबे – पृष्ठ–194

63. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास–द्वितीय खंड – डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त – पृष्ठ–385

64. हिन्दी नाटककार – डॉ. जयनाथ नलिन – पृष्ठ–243

65. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – द्वितीय खंड – डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त – पृष्ठ–387

66. हिन्दी के पौराणिक नाटक – डॉ. देवर्षि सनाढ्य शास्त्री–पृष्ठ–210-212

67. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – द्वितीय खंड – डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त – पृष्ठ–388

68. वही – पृष्ठ–391

69. हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक – डॉ. दशरथसिंह – पृष्ठ–215

70. हिन्दी नाटककार – डॉ. जयनाथ नलिन – पृष्ठ–119

71. साठोत्तरी हिन्दी नाटक : हिन्दी नाटक : सन् साठ के बाद
विजयकांत धर दूबे – पृष्ठ–09

72. वही – वही – पृष्ठ–09

73. वही – वही – पृष्ठ–16

74. वही – वही – पृष्ठ–16-17

75. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक – डॉ. रमेश गौतम – प्राक्कथन

76. साठोत्तरी हिन्दी नाटक – विजयकांत धर दूबे – पृष्ठ–24-28

77. साक्षात्कार : 17 – पृष्ठ–90

78. डॉ. जयदेव तनेजा : आजकल, दिसंबर–1980 – पृष्ठ–08

79. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – द्वितीय खंड – डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त–पृष्ठ–394

80. वही – वही – पृष्ठ–395

81. वही – वही – पृष्ठ–396

82. वही – वही – पृष्ठ–397

83. वही – वही – पृष्ठ–416

83A. वही – वही – पृष्ठ–417

84. वही – वही – पृष्ठ–418

85. वही – वही – पृष्ठ–420-421

86. हिन्दी उपन्यास : शिवनारायण श्रीवास्तव – पृष्ठ–43

87. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास –द्वितीय खंड
डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त– पृष्ठ–422-423

88. वही – वही – पृष्ठ–423

89. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ. नगेन्द्र – पृष्ठ–583

90. वही – वही – पृष्ठ–584-585

91. वही – वही – पृष्ठ–588-589

92. वही – वही – पृष्ठ–675

93. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास–द्वितीय खंड – डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त – पृष्ठ–442-443

94. वही - वही - पृष्ठ-444

95. वही - वही - पृष्ठ-435

96. वही - वही - पृष्ठ-445

97. वही - वही - पृष्ठ-445

98. वही - वही - पृष्ठ-446

99. वही - वही - पृष्ठ-449-450

100. वही - वही - पृष्ठ-398

101. वही - वही - पृष्ठ-398

102. वही - वही - पृष्ठ-399

103. अभिनव एकांकी-सरोवर-डॉ. धर्मपाल वर्मा -पृष्ठ - 01

104. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-द्वितीय खंड-डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त-पृष्ठ-399

105. वही - वही - पृष्ठ-399

106. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास - डॉ. रामचरण महेन्द्र - पृष्ठ-61

107. आधुनिक हिन्दी नाटक - डॉ. नगेन्द्र - पृष्ठ-131

108. वही - वही - पृष्ठ-131

109. हिन्दी एकांकी में जीवन-मूल्य - डॉ. (श्रीमती) अंजुलता गौड़ - पृष्ठ-243

110. वही - वही - पृष्ठ-243

111. हिन्दी एकांकी एवं एकांकीकार-डॉ. रामचरण महेन्द्र-पृष्ठ-58

112. हिन्दी एकांकी - प्रो. सत्येन्द्र - पृष्ठ-30

113. हिन्दी एकांकी एवं एकांकीकार - डॉ. रामचरण महेन्द्र - पृष्ठ-77

114. हिन्दी एकांकी में जीवन मूल्य - डॉ. (श्रीमती) अंजुलता गौड़ - पृष्ठ-245

115. वही - वही - पृष्ठ-246

116. वही - वही - पृष्ठ-247

117. आधुनिक हिन्दी नाटक - डॉ. नगेन्द्र - पृष्ठ - 126

118. वही - वही - पृष्ठ-07

119. श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी : नया-पथ नाटक विशेषांक वर्ष 3 अंक 7, मई 1956 के लेख 'नाटक स्वरुप'

120. समकालीन कहानी की रचना-विधान - डॉ. गंगाप्रसाद विमल - पृष्ठ-65

121. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास- द्वितीय खंड
डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त-पृष्ठ-401

122. हिन्दी एकांकी का उद्भव और विकास - डॉ. महेन्द्र - पृष्ठ-222

123. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास -द्वितीय खंड
डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त-पृष्ठ-415

124. साठोत्तरी हिन्दी कहानी में पात्र व चरित्र-चित्रण-डॉ. रामप्रसाद